मधुमय बना देता है । कलात्मक जीवन की छटा उसके सौरभ से खिलती है । ऐसे महामानव संगति, संवाद और संचिंतन के द्वारा सामूहिक जीवन को सुरभिमय बना देते हैं । उसी सुरभि का नाम है संस्कृति । प्रकृति, परंपरा और संस्कृति संपन्न जीवन के अंग हैं । स्वाध्याय और प्रवचन इनका संचार-स्रोत है । संचार के बिना प्रकृति नैसर्गिक न रहकर केवल जड़ बनकर रह जाती है, परंपरा क्रियात्मक न रहकर रूढ़ि बनकर खड़ी रह जाती है और संस्कृति सर्जनात्मक न रहकर अंधविश्वास बनकर भटकने लगती है । नवजीवन का माध्यम है शिक्षा का संचार । शिक्षा और संचार का माध्यम है भाषा । शिक्षा, भाषा, समाज और संस्कृति इन चारों का अटूट संबंध है । भाषा की अधिष्ठात्री देवी भी सरस्वती है ।

मानसिक विकास के अंतर्गत बुद्धि, भाव और भाषा इन तीनों का विकास आता है । बुद्धि, भाव और भाषा प्रकृति की विशेष देन हैं । इन्हीं के कारण मनुष्य दूसरे प्राणियों से विशिष्ट है । ये प्रकृति की देन तो अवश्य हैं किंतु इनका विकास सरस्वती के आशीर्वाद से होता है । सरस्वती वास्तव में प्रकृति का ही उत्कृष्ट रूप है । मानव को जन्म देने वाली मां तो प्रकृति और सरस्वती दोनों की प्रतीक है । भाषा मां की देन है । गांधी जी ने ठीक कहा था कि जैसे बच्चे के शरीर में मां के दूध का संचार होता है वैसे ही उसके मन में मां की लोरी के साथ मातृभाषा का संचार होता है । सृष्टि के प्रारंभ में भी आदि मां के हृदय से आदि ऋषियों के मन में आदि भाषा का संचार हुआ था । आदि सूत्रों का ज्ञान भी मानव को आदि पिता शिव के डमरू की डुंकार से ही हुआ था । शिव और शक्ति आदि स्रष्टा के ही दो रूप हैं जो हमारी मानवीय कल्पना और साहित्य के आधारस्तंभ हैं । संभवतः इसी कारण आदि साहित्य में शिक्षा के संबंध में कहा गया है कि 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद' । प्रकृति से प्रवचन पर्यंत शिक्षा की सारी प्रक्रिया माता-पिता और आचार्य के सान्निध्य में उन्हीं के सम्मुख एवं उन्हीं के श्रीमुख से संपन्न होती है । बुद्धि, भाव और भाषा इनकी प्राप्ति प्राकृत तो अवश्य है किंतु इनका विकास और परिष्कार शिक्षा के द्वारा होता है । जो प्रक्रिया प्रकृति मां की गोद में आरंभ होती है वह सरस्वती मां के मंदिर में संपन्न होती है अर्थात् सरस्वती के आशीर्वाद से प्राकृत संस्कृत बन जाती है । जो शिक्षा संस्थान किसी न किसी रूप में सरस्वती मंदिर का रूपांतर नहीं है उसमें कहीं न कहीं, कोई न कोई खोट अवश्य है और रहता है ।

बुद्धि, भाव और भाषा के साथ-साथ एवं इनके अतिरिक्त और इनसे ऊपर मनुष्य को प्रकृति की सबसे बड़ी देन है चेतना । चेतना चेतन का स्वाभाविक गुण है । चित्त चेतना का पटल है । चेतनापटल चित्त का केवल आंशिक भाग है क्योंकि चित्त का पटल तो स्मृति और संस्कार की अवचेतन और अचेतन गहराइयों तक पहुंचता है । चेतनापटल इन गहराइयों को छू भी नहीं पाता । चेतना में ही बुद्धि, भाव और भाषा का समन्वय होता है । इस नाते समस्त शिक्षा-प्रक्रिया चेतना का ही विस्तार और परिष्कार है । विस्तार से ज्ञान की वृद्धि होती है और परिष्कार से समाज और संस्कृति की उन्नति होती है ।

जीवन के संदर्भ में चेतना स्वयं अपना विषय नहीं होती । उसे अपना कार्य अर्थात् अनुभूति

या अभिव्यक्ति करने के लिए अन्य वस्तु की अपेक्षा होती है । उदाहरण के तौर पर हम कह सकते हैं कि हमारे प्राकृतिक और समाजिक परिवेश में एक ओर तो फूल-पत्ते, जीव-जंतु, नदी-नाले, पृथ्वी-आकाश इत्यादि हैं तो दूसरी ओर घर-बाहर, खान-पान की सामग्री, हाट-बाजार और पास-पड़ोसी हैं । ये सब हमारे अनुभव का विषय हैं और यह अनुभव हमारे बुद्धिपटल पर अर्थात् चेतना में अंकित होता चला जाता है । माता-पिता या औरों से हम इन वस्तुओं के नाम भी सुनते हैं और उन नामों को भी अपने बुद्धिपटल पर अंकित कर लेते हैं । यही पटल अब हमारा स्मृतिपटल बन जाता है । शनैः-शनैः हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलने लगते हैं । रिश्ते-नाते, अच्छा-बुरा, प्राकृतिक और सामाजिक तथ्यों के परस्पर संबंध और उनके बढ़ने-घटने की प्रक्रिया हमारे बुद्धिपटल पर विषय-वस्तु और उसके नामों के साथ अंकित होती रहती है । यह सब हमारी अनुभूति का क्षेत्र है । इस अनुभूति के आधार पर हमारे बुद्धिपटल/स्मृतिपटल पर इन दो के अतिरिक्त एक और चीज अंकित हो गई है । ये मिलाकर तीन चीजें बनती हैं । एक विषय-वस्तु और उसका रूप आकार इत्यादि, दूसरी उसका नाम, और तीसरी उस वस्तु और उसके नाम का संबंध एवं समन्वित रूप अर्थात् अर्थ । वस्तु, रिश्ते-नाते, नियम और प्रक्रियाएं, विचार ये सब अनुभव की स्थूल और सूक्ष्म सामग्री हैं । इन सबके नाम उसी सामग्री के ध्वन्यात्मक रूपांतर हैं और इसी वास्तविक और ध्वन्यात्मक सामग्री का समन्वित रूपांतर भाषा है ।

अब भाषा के दो रूप हो गए : एक व्यक्त अर्थात् ध्वन्यात्मक और दूसरा अव्यक्त किंतु वक्तव्य अर्थात् मानसिक । मानसिक विकास की यह प्रक्रिया अनुभव पर आधारित है और प्राकृत एवं स्वाभाविक है और साथ में भाषायी विकास की द्योतक भी है । यह प्रक्रिया व्यक्तिगत है किंतु साथ-साथ समाज से संबद्ध भी है । अनुभवगत और अनुभवगम्य सारी विषय-वस्तु का शाब्दिक रूपांतर तो हमें माता-पिता या अपने परिवेश में रहने वाले दूसरे व्यक्तियों से ही मिलता है । उनके साथ वार्तालाप में हम उन्हीं शब्दों का उन्हीं अर्थों में प्रयोग करते हैं अन्यथा हम अपनी बात उन तक पहुंचा नहीं सकते । इस प्रकार भाषा हमारी वैयक्तिक और सामाजिक चेतना का अमूल्य धन है । भाषा ही हमारी वैयक्तिक अभिव्यक्ति और संचार का साधन है । यही आनुभविक चेतना भाषा समेत हमारे बुद्धिपटल से अवचेतन और अचेतन की गहराइयों में, गूढ़ स्मृति और संस्कारों में, छन-छनकर उतरती रहती है । इस प्रकार भाषा की शाखाएं यदि हमारे परिवेश तक फैली हैं तो उसकी जड़ें हमारे वैयक्तिक और सामूहिक स्मृति-संस्कार और अचेतन की असीम गहराइयों तक उतरी होती हैं । हमारी परंपरा (धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक) इन्हीं स्मृति संस्कारों की सामूहिक अभिव्यक्ति है । भाषा हमारे वैयक्तिक एवं सामूहिक परिवेश के अंतिम छोर तक पहुंचती है और अतीत की गहराइयों को छूती है । हम कौन हैं, क्या हैं, कहां हैं, कहां से आए हैं, किधर जा रहे हैं, कहां पहुंचना है और क्यों पहुंचना है, ये सारे प्रश्न उठाए जा चुके हैं, उठाए जाते हैं । इनका उत्तर खोजने का प्रयास भी किया गया है और किया जा रहा है । भाषा में ये प्रश्न, उत्तर और प्रयास सब विहित हैं । अतः हम यह भी कह सकते हैं कि किसी

भी व्यक्ति एवं समाज के अतीत, अनागत और वर्तमान की झलक उस व्यक्ति और समाज की भाषा में लक्षित हुआ करती है। इसी कारण भाषा हमारी चेतना अर्थात् मानसिक विकास का परम साधन है। शब्द को ऋषियों ने ब्रह्म की संज्ञा भी दी है। जो हमारी आत्मा है वही हमारी भाषा की आत्मा भी है।

मानसिक विकास केवल व्यक्तिगत और ऐंद्रिय अनुभूति के आधार पर ही नहीं होता। यदि केवल ऐसा ही होता तो सृष्टि का प्रत्येक मनुष्य वहीं से प्रारंभ करता और लगभग वहीं पर छोड़ देता जहां से औरों ने प्रारंभ किया और जहां उन्होंने छोड़ा। सभ्यता, साइंस, संस्कृति, साहित्य इत्यादि का जो विकास हुआ वह नहीं हो पाता। विकास वास्तव में व्यक्तिगत भी है और सामूहिक भी है। व्यक्तिगत विकास व्यक्तिगत अनुभव से प्रारंभ तो होता है किंतु एक विशेष स्तर पर पहुंचने के पश्चात् हम अपने पूर्वतर अनुभव का उपयोग लेने लगते हैं। साइंस और साहित्य मानव मात्र की सामूहिक धरोहर है और एक वैज्ञानिक वहां से काम प्रारंभ करता है जहां दूसरों ने छोड़ा है। दूसरों के अनुभव एवं ज्ञान का उपयोग हम भाषा के माध्यम से ही कर पाते हैं। हमारा कुल मिलाकर जो भी इस प्रकार अनुभव होता है वह दृष्ट और आनुश्रविक दो प्रकार का होता है। आनुश्रविक अनुभव स्वाध्याय और प्रवचन के द्वारा संपन्न होता है और इन दोनों का माध्यम है भाषा। दृष्ट अनुभव तो स्वाभाविक होता ही है, आनुश्रविक अनुभव भी स्वाभाविक अनुभव का संवर्द्धन होना चाहिए क्योंकि यदि वह अस्वाभाविक हो, मानसिक विकास या तो होगा नहीं और यदि कुछ संभावना होगी भी तो ऐसी होगी कि सीखने वाला रास्ते में ही टूट जाएगा। आनुश्रविक अनुभव की प्रक्रिया स्वाभाविक प्रक्रिया का ही अनुशीलन होना चाहिए। आनुश्रविक अनुभव बिना वस्तु-दर्शन के सम्यक्-संपन्न नहीं होता।

आनुश्रविक अनुभव अथवा स्वाध्याय और प्रवचन ये ही शिक्षा के साधन हैं। इस प्रकार शिक्षा मनुष्य के स्वाभाविक अनुभव का संवर्द्धन ही है। इसीलिए हमने प्रारंभ में कहा है कि शिक्षा मानसिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया का रचनात्मक अनुशीलन है। शिक्षा को सुंदर और सिद्धिपरक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सारी शिक्षण-प्रक्रिया स्वाभाविक हो। विषय-वस्तु अर्थात् कोर्स और पाठ्य पुस्तकें समाज सभ्यता, संस्कृति और परंपरा के अनुकूल हों। भाषा विद्यार्थी की बुद्धि और भावों को छूने वाली हो जो कि शब्द, अर्थ और वस्तु तीनों को अनायास ही उसके मानसपटल पर उतार दे। वास्तविक ज्ञान का अर्थ ही यह है कि वह केवल शब्दों तक ही सीमित नहीं रहता अपितु शब्दों के माध्यम से विद्यार्थी को वस्तु-ज्ञान तक पहुंचा देता है। वस्तु-शून्य ज्ञान केवल शब्दाडंबर होता है और विद्यार्थी के लिए जानलेवा जंजाल बन जाता है जो ज्यादा देर तक बुद्धि में नहीं टिकता। शिक्षा-भाषा मातृभाषा ही हो सकती है क्योंकि उसी का संबंध उसके परिवेश के साथ होता है और वही उसकी भावनाओं और संस्कारों को छूने वाली होती है। इसके अतिरिक्त केवल उसी भाषा में उसके मानसपटल पर शब्द, अर्थ और वस्तु का संश्लिष्ट रूप अंकित होता है। यदि कोई और भाषा विशेषकर विदेशी भाषा शिक्षा का माध्यम हो तो विद्यार्थी सीधा विषय-वस्तु या ज्ञान-वस्तु तक नहीं पहुंच

पाएगा क्योंकि उसके लिए वह भाषा तो वस्तु-शून्य है। इसलिए पहले वह विदेशी भाषा के समानार्थ मातृभाषा में विद्यमान शब्दों तक पहुंचेगा और उनके माध्यम से वास्तविक ज्ञान तक पहुंचेगा। यह प्रक्रिया स्वाभाविक नहीं है, इसलिए मानसिक विकास में यह अवरोध खड़ा कर देती है। शिक्षा वास्तविक नहीं हो पाती और विद्यार्थी तेली के बैल की तरह चलते-चलते भी आगे नहीं बढ़ पाता। जो कुछ वह सुनता है उसे जब तक वह अपनी भाषा में परिणत करता है तब तक सुनाने वाला कहीं से कहीं पहुंच जाता है। स्वाध्याय वह करता नहीं, प्रवचन निष्फल हो जाता है। शिक्षक भले ही अपनी ओर से मोती बिखेरे, पर ये हंस तो उन्हें पहचानते नहीं। पहचानने वाले तो हजारों मील दूर उड़ते हैं। यहां के मोतियों की चमक और है, उसे शिक्षक नहीं पहचानता। शिक्षक के मोतियों को विद्यार्थी नहीं पहचानते। मोतियों की दलाली में भी काले हाथ ! बूर के पकौड़ों से पेट नहीं भरता।

यह वैचारिक चर्चा कुछ लंबी हो गई किंतु यह आवश्यक जान पड़ती है। कारण दो हैं : एक तो यह कि जब से भारत में अंग्रेजी शिक्षा लागू करने का प्रस्ताव किया गया तभी से प्रस्तावक और अंग्रेज शिक्षाशास्त्री यह जानते थे कि भारत में शिक्षा का स्वाभाविक माध्यम केवल भारती हो सकता है। इसका अर्थ है कि वे यह भी जानते थे कि अंग्रेजी माध्यम यहां पर अस्वाभाविक अर्थात् पारभाविक होगा। हम पहले ही स्वाभाविक और पारभाविक विषय की चर्चा कर चुके हैं। यह जानते हुए भी उन्होंने अंग्रेजी माध्यम को लागू किया, पारभाविक कारणों से। अब अस्वाभाविक माध्यम के पश्चात् यह स्वाभाविक था कि शिक्षा का स्तर नीचे गिरे। हम यह सुनते-सुनते थक चुके हैं कि भारत में शिक्षा का स्तर नीचा है और गिरता जा रहा है। हम यह भी सुनते आ रहे हैं कि भारत में अंग्रेजी भाषा का स्तर गिर रहा है। दूसरा कारण एक प्रश्न है कि अंग्रेजी और शिक्षा का स्तर कब से गिर रहा है ? कहीं उसी समय से तो नहीं गिर रहा जबकि अंग्रेजी को लागू किया गया था ? इससे हमें यह देखने में सहायता मिलेगी कि कमजोरी विद्यार्थियों में है या पद्धति में। और फिर हम संभवतः यह देख पाएंगे कि इस कमजोरी का सही इलाज क्या है।

अंग्रेजी शिक्षा का प्रथम प्रस्ताव चार्ल्स ग्रांट ने तैयार किया था जो उन्होंने 1793 में पार्लमेंट के सामने रखा था। ग्रांट चाहते थे कि शिक्षा के विषय हों अंग्रेजी साहित्य और साइंस और माध्यम हो अंग्रेजी भाषा। उन्हीं के अपने विचार के अनुसार शिक्षा का स्वाभाविक माध्यम केवल भारती ही था। उनके विचार में भारती माध्यम केवल स्वाभाविक ही नहीं, आवश्यक भी था क्योंकि यह आशा करना व्यर्थ था कि भारतीय विद्यार्थी किसी और माध्यम से शिक्षा विषयों को समझ लेंगे। उन्होंने अंग्रेजी माध्यम का प्रस्ताव केवल राजनीतिक कारणों से किया था।[1] ग्रांट महोदय के मानस-पुत्र थे लार्ड मकाले जिन्होंने अंग्रेजी बरगद का जंगी बूटा लगाया था। उन्होंने अंग्रेजी माध्यम लागू तो करवा दिया किंतु वे जानते थे कि अंग्रेजी में पढ़ाने का भी अनिवार्य अर्थ यही होगा कि विद्यार्थी पढ़ेंगे भारती में ही, क्योंकि पहले वे अंग्रेजी शब्दों का पर्याय ढूंढ़ेंगे अपनी

1. सय्यद महमूद, 'हिस्ट्री आफ इंग्लिश एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 11-13

भाषा में और तत्पश्चात् विषय-वस्तु को समझेंगे । मकाले की स्वयं मान्यता यह थी कि हमारी वास्तविक भाषा तो हमारी मातृभाषा ही होती है । हम अपने परिवेश में जिन वस्तुओं को देखते हैं उन्हीं के नाम अपनी मातृभाषा में सीखते हैं । बाद में हम जो भी भाषा सीखते हैं वह वास्तविक नहीं होती, केवल प्रथम भाषा के शब्दों का पर्याय-रूपांतर होती है ।[2] एल्फिस्टन ने कहा था कि पाश्चात्य विचारों को भारतीयों तक यदि सुगम और पक्के तरीके से पहुंचाना है तो उसका केवल एक ही माध्यम है और वह है विद्यार्थियों की मातृभाषा । अंग्रेजी माध्यम भारत में कभी सफल नहीं होगा ।[3] बंबई के गवर्नर महोदय ने जब अंग्रेजी माध्यम का आदेश जारी किया तो उस आदेश में ही कहा गया कि उनके विचारानुसार भारत के लोगों की शिक्षा उसी भाषा में देने के लिए प्रयास किए जाने चाहिए जिस भाषा को वे बचपन से जानते हैं ।[4] भारतीय शिक्षा आयोग (1882) के मत में भी भारती माध्यम ही उचित था । बार-बार यह कहा गया कि शिक्षा का माध्यम केवल वह भाषा होनी चाहिए जो उन्होंने शैशव अवस्था से सीखी हो, जिसमें वे अपने परिवेश के फूल-पत्तों को और घर-बाहर को जानते हों और जिसके माध्यम से वे सोचते हों और अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हों । बंबई के कैप्टेन कैंडी, कर्नल जार्विस और सर जगन्नाथ यह कहते-कहते थक गए । किंतु भारती न माध्यम बनाई गई, न उसका विकास किया गया ।

यह भी जानी-मानी बात थी कि जिन विद्यार्थियों ने भारती के माध्यम से शिक्षा प्राप्त की थी उन्होंने अच्छे परिणाम दिखाए अपेक्षाकृत उनके जिन्होंने अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा ग्रहण की थी । 1882 के शिक्षा आयोग के अनुसार जो विद्यार्थी भारती के माध्यम से पढ़कर हाईस्कूल में आए थे उनका मैट्रिक परिणाम उन विद्यार्थियों से अच्छा था जो अंग्रेजी स्कूलों से आए थे । 1913 के भारत सरकार के शिक्षा प्रस्ताव में यह माना गया था कि भारती माध्यम से पढ़े विद्यार्थियों का मानसिक और बौद्धिक स्तर निस्संदेह बहुत ही ऊंचा था । 1915 में इस विषय पर जब वाइसराय महोदय की असेंबली में बहस हुई तो निरपवाद रूप से यह माना गया कि जिन बच्चों की शिक्षा भारती माध्यम से हुई थी उनका मानसिक स्तर उन बच्चों से बहुत ऊंचा था जिनकी शिक्षा मिडिल स्कूल में अंग्रेजी के माध्यम से हुई थी ।[5]

बच्चे अंग्रेजी से जूझते रहे और अध्यापक बच्चों से । दोनों की इस गौर लीला की एक झलक पंजाब की रंगभूमि से मिलती है । 1849 में अमृतसर में एक सरकारी स्कूल खुला । स्कूल की रिपोर्ट में अंग्रेजी के संबंध में कहा गया कि इस विभाग ने बड़ी उन्नति की है जैसी कि आशा की गई थी । स्कूल खुलने से पहले अमृतसर के बहुत लोगों ने अंग्रेजी अध्ययन के लिए बड़ी प्रबल इच्छा प्रकट की थी । रीडिंग, स्पेलिंग और लेखन, हिसाब, प्रारंभिक ज्यामिति और भूगोल कोर्स में रखे गए हैं । बहुत-से धनी-मानी पंजाबी सज्जन अपने बच्चों को प्राइवेट अंग्रेजी पढ़वाते हैं और बहुत सारे बंगाली महाशय जो टूटी-फूटी अंग्रेजी जानते हैं वे अंग्रेजी टीचर के रूप में

2. 'मिनिट्स आन एज्यूकेशन इन इंडिया', संकलित एच० वुडरो (1862), पृ० 41
3. उद्धृत : नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री ऑफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 98
4. रिची, 'एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', II, पृ० 19-20
5. उद्धृत : तुलसीराम, 'ट्रेडिंग इन लैंग्वेज' (दिल्ली, 1983), पृ० 191

नौकरी पा लेते हैं ।[6]

एक नमूना अंग्रेजी अध्यापक का भी देखने योग्य है जो मार्क ट्वेन की पुस्तक 'फालोविंग द इक्वेटर' से मिलता है । मार्क ट्वेन 1895 में भारत-यात्रा पर आए थे और उन्होंने गौरवर्ग भारतीयों को अंग्रेजी के नीचे पिसते देखा था । उन्होंने अंग्रेजी अध्यापक के लिए दी गई एक प्रार्थना का उद्धरण दिया है । एक महत्त्वाकांक्षी नौजवान लिखता है :

> My dear Sir or Gentlemen, that your Patitioner has much qualification in the language of English to instruct the young boys; I was given to understand that your of suitable children has to acquire the knowledge of English language.[7]

एक नौजवान परीक्षा में पास होने के लिए परीक्षक महोदय से याचना कर रहा है :

> Oh my dear father examiner you my father and you kindly give me a number of pass you my great father. Sir which Sir Isaac Newton and other experienced mathematicians cannot understand I being third of Entrance class can understand these which is too impossible to imagine.[8]

एक श्रीमान पास तो हो गए । अब वह नैकरी की खोज में निकले । प्रार्थना-पत्र नीचे उद्धृत है :

> I pray please to give me some action for I am very poor boy...you give the telegraph office, and another work what is your work.[9]

मार्क ट्वेन ने जब नौजवानों की यह दशा देखी तो उन्हें हंसी आई और साथ में रोना भी । कुछ परिणाम तो बड़े ही आश्चर्यजनक थे जैसे आज भी होते हैं । शेर का शिकार तो एक-दो निशानेबाज ही करते हैं, शेष भीड़ तो मात्र ढोल पीटने के लिए जाती है । मार्क ट्वेन कहते हैं कि अंग्रेजी की दुनिया में जो नौजवान धकेले जा रहे थे वे यदि छोटा शिकार करने निकलते तो उनके हित में होता किंतु अंग्रेजी की तलाश में तो वे केवल समय ही बर्बाद कर रहे थे ।[10]

किसान फसल काट कर खलिहान में लाया । गहटा चलाया । दाने और छिलके अलग-अलग किए । बरसाया । बच्चे अनाज तक पहुंच नहीं पाए । छिलके बटोरते रहे ।

मां ने अनाज पिसवाया । आटा छाना । बूर अलग किया । रोटियां बनाईं । बच्चे का हाथ रोटियों तक नहीं पहुंचा । बूर फांकता रहा ।

चावल और छिलका, गेहूं और बूर—ये साथ-साथ रहते हैं । अलग-अलग होने पर दाने से पेट भरता है, आटे से पेट भरता है, छिलके या बूर से नहीं ।

शब्द और अर्थ का वही संबंध है जो चावल और छिलके का है । शब्द रूप है तो अर्थ

6. रिची, 'एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', II, पृ० 280
7. मार्क ट्वेन, 'फौलोविंग द इक्वेटर' (न्यूयार्क, 1923), II, पृ० 276-77
8. वही, पृ० 281-82
9, 10. वही, पृ० 281-82

उसकी आत्मा । शब्द अकेला वैसा ही है जैसा चावल के बिना छिलका या गिरी के बिना बूर । अंग्रेजी पढ़ने वाले नौजवान अर्थ तक नहीं पहुंच पाए केवल शब्दों से जूझते रहे । कलकत्ता यूनिवर्सिटी का परिणाम प्रतिशत इस प्रकार रहा :

	1898-1903	1904
मैट्रिक	47.4	37.8
एफ०ए०	36.2	33.8
बी०ए०	21.9	10.1

1902 में जो भारतीय यूनिवर्सिटी कमिशन बैठाया गया था उसकी रिपोर्ट के अनुसार भारतीय ग्रेज्युएट्स की योग्यता अत्यंत नीचे स्तर की थी । कारण ? विदेशी भाषा । कमिशन ने अपनी रिपोर्ट के पैरा-17 में लिखा था, "विदेशी भाषा में शिक्षा-ग्रहण करने के कारण विद्यार्थी को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है हम उन्हें भली भांति जानते हैं । हमें याद है कि जब यूरोप के विद्यार्थी क्लासिकल भाषा (लैटिन) के माध्यम से सारी शिक्षा ग्रहण करते थे तो वे लैटिन में गलतियां तो करते थे किंतु बोल अवश्य लेते थे । किंतु भारत में सारी कठिनाइयों को यदि ध्यान में रख भी लें तब भी यह सुनकर बड़ा अफसोस होता है कि बहुधा भारतीय बी०ए० के पास वह योग्यता नहीं होती जो उसे अपनी जीवनचर्या के लिए अपेक्षित है ।" अंग्रेजी की तुलना लैटिन के साथ इसलिए की गई कि अंग्रेजी तो यहां क्लासिकल भाषा की तरह पढ़ाई जा रही थी ।

यह भी कहा जा सकता है कि अंग्रेजी तो केवल नौकरी के लिए भाषा के रूप में वैसे ही पढ़ी जा रही थी जैसे मुगल काल में फारसी । तो भी देखें कि विद्यार्थियों की भाषा-योग्यता कैसी थी । अपनी रिपोर्ट के पैरा-24 में उन्होंने लिखा : "यद्यपि मैट्रिकुलेशन कोर्स में अंग्रेजी को प्रमुख स्थान दिया गया है तो भी परिणाम बड़े ही निराशाजनक हैं । मैट्रिक के पश्चात् विद्यार्थी जब कालेज में पहुंचते हैं तो वे अंग्रेजी में लेक्चर नहीं समझ पाते । कुछ विद्यार्थी तो ऐसे हैं जो कुछ समय के पश्चात् इस कठिनाई से पार हो जाते हैं किंतु अधिकतर ऐसे हैं कि वे यूनिवर्सिटी कोर्स से गुजर जाते हैं फिर भी भाषा में अधिकार-प्राप्ति के आस-पास भी नहीं पहुंच पाते । और बहुत सारे तो ऐसे हैं जो डिग्री भी प्राप्त कर लेते हैं किंतु अंग्रेजी में एक पत्र भी ठीक नहीं लिख सकते । और जो अंग्रेजी लिखने और बोलने में योग्यता-प्राप्त हैं भी उनका भी उच्चारण ऐसा है कि न ही सुनें तो अच्छा है ।"

यदि अंग्रेजी नहीं आई तो भारती तो उनकी अपनी भाषा थी । ग्रेज्युएट को अपनी भाषा तो आनी ही चाहिए । आदमी देसी, चाल अंग्रेजी, अपनी भी भूल गया । अंग्रेजी पढ़ी, वह आई नहीं, भारती पढ़ी नहीं, वह आती कैसे ? गली-गलियारे के स्तर तक ही रह गई । कमिशन को खेद के साथ यह कहना पड़ा कि शिक्षा में भारती भाषाओं की अवहेलना की गई है और बहुत सारे ग्रेज्युएट्स ऐसे हैं जिन्हें अपनी मातृभाषा का ज्ञान केवल नाम मात्र को ही है । भारत के नौजवान अपने ही घर में अपनी ही मां की गोद में भाषा-विहीन हो गए । माइकल वेस्ट ने ऐसे

लोगों को 'लैंग्वेजलैस' की संज्ञा दी है ।

मनुष्य की अनुभूति, चिंतन, शिक्षण और सर्जन ये सब उसके परिवेश और परंपरा से जुड़े होते हैं । परिवेश, परंपरा और भाषा उसके चिंतन में सन्निविष्ट होते हैं । अनुभूति, चिंतन, भाषा और अभिव्यक्ति इन सबका आंतरिक गठन एक होता है । इन सबके बाह्य लक्षण भी एक जैसे होते हैं । विदेशी भाषा का आंतरिक गठन और बाह्य लक्षण दोनों ही विदेशी होते हैं जिनका देशी भाषा से कोई तालमेल नहीं होता—यदि तालमेल होता है तो वह भाषा विदेशी नहीं केवल अपनी भाषा का रूपांतर होती है । भारतीय भाषाओं का गठन और संबंध अंग्रेजी के गठन और लक्षण से भिन्न है । अब भारतीय विद्यार्थियों की अनुभूति तो भारतीय परंपरा और भाषा के अनुरूप है । अंग्रेजी में समझना और लिखना पड़ रहा है । एक भारतीय नौजवान का स्वाभिमान यदि जोर मारे तो वह कह उठेगा कि 'मैं आपके नीचे नहीं हूं ।' बात सही है और भाषा में कहीं कोई त्रुटि नहीं है । किंतु वही स्वाभिमान अंग्रेजी में जोर मारे, तो ? मैंने स्वयं देखा कि एक नौजवान ने कहा, "आइ एम नाट योर अंडर (I am not your under)" यह भारतीय अंग्रेजी है, इससे कौन इनकार कर सकता है ? फिर भी अंग्रेजी नहीं है । आप समझते हैं, फिर भी इसे भाषा नहीं मानते । अटपटी लगती है ।

मार्क ट्वेन को भारतीय विद्यार्थियों की अंग्रेजी अटपटी लगी । उन्होंने इस बात को समझने का प्रयत्न भी किया । उन्होंने लिखा है कि वे बच्चे एक भाषा में सोचते थे और दूसरी भाषा में लिखते थे अर्थात् अपनी मातृभाषा में सोचते थे और अंग्रेजी में लिखते थे ।[11]

एक भाषा में सोचना और दूसरी में लिखना—तुरंत पकड़े जाएंगे । मैं स्वयं भुगत चुका हूं । 1949 में दिल्ली विश्वविद्यालय से अंग्रेजी एम०ए० फर्स्ट क्लास फर्स्ट पाकर और ग्यारह वर्ष हंसराज कालेज में एम०ए० तक अंग्रेजी पढ़ाकर मैं 1960 में पी-एच०डी० करने के लिए लंदन विश्वविद्यालय पहुंचा । क्वीन मेरी कालेज के प्रोफेसर नार्मन कैलन के सान्निध्य में मुझे स्वाध्याय का सुअवसर मिला । डेढ़ वर्ष तक अंग्रेजों के बीच रहता रहा, उनके साथ बोलता रहा, ब्रिटिश म्यूजियम पुस्तकालय में पढ़ता रहा और लिखता रहा । पहला अध्याय लिखकर मैंने प्रोफेसर महोदय को दिया । प्रोफेसर कैलन अत्यंत सहृदय शिक्षक थे । उन्होंने ध्यान से पढ़ा और अमूल्य सुझाव भी दिए । जब मिले तो मानो एक बात कहने की प्रतीक्षा में ही थे । बोले : "क्या तुम हिंदी में सोचते हो ?" मेरा तो मस्तिष्क घूम गया, मानो पैरों तले से धरती निकल गई । किंतु अगले क्षण ही मां ने मेरा मानसिक संतुलन लौटा दिया । मैंने उत्तर दिया : "जी हां, और मैं तो इससे भी बुरा करता हूं ।" प्रोफेसर बोले : "वह क्या ?" मैंने कहा : "वही जो सारे भारतीय करते हैं । जब हम अंग्रेजी में लिखते हैं तो हिंदी में सोचते हैं और जब हिंदी में लिखते हैं तो अंग्रेजी में सोचते हैं ।"

खेद की बात यह है कि हमारे देश में मात्र अंग्रेजी भाषा का ज्ञान शिक्षा का पर्याय बन गया । आज भी वही बात है । 1963 में मैं जब इंग्लैंड से लौटकर अपने गांव पहुंचा तो वहां

11. 'फौलोविंग द इक्वेटर', II, पृ० 175-76

के लोगों ने पहला प्रश्न किया कि "विलायत के बारे में कोई विशेष बात बताओ।" मैंने कहा कि "विशेष बात यह है कि बच्चे से लेकर बूढ़े तक सब अंग्रेजी बोलते हैं।" उन्होंने दांतों तले अंगुली दबाई और कहने लगे कि वास्तव में बड़ा ही अद्‌भुत देश है, सब अंग्रेजी बोलते हैं। हमें यह पता ही नहीं है कि अंग्रेजी जगत में ही आधे लोग प्रायः अशिक्षित् हैं। मैंने लंदन में ही जब अपना शोध-प्रबंध एक अंग्रेज टाइपिस्ट को दिया तो कुछ पृष्ठ टाइप करने के बाद उसने पूछा कि क्या अंग्रेजी आपकी मातृभाषा है ? मैंने कहा, नहीं। अंग्रेजी तो मेरी चौथी भाषा है। किंतु मैंने उससे पूछा कि तुमने यह प्रश्न क्यों किया ? उसने उत्तर दिया कि जो कुछ आपने लिखा है उसमें से आधे से ज्यादा मेरी समझ में नहीं आता। हो सकता है कि क्योंकि टाइपिस्ट एक स्कूल पास ही लड़की थी इसलिए उसे मेरी अंग्रेजी अंग्रेजी लगी हो। हो सकता है कि दो वर्ष में मेरी अंग्रेजी में कुछ अंग्रेजी परिवर्तन आ भी गया हो। फिर भी भारतीय अंग्रेजी को अंग्रेजी बनाने के लिए यदि दो वर्ष इंग्लैंड में रहना आवश्यक हो तो इतना महंगा सौदा कौन करे ? और करे भी, मेरी तरह से, तो प्रोफेसर कैलन तो फिर भी नहीं बन सकता।

भारतीय अंग्रेजी को अटपटी (फनी) के साथ-साथ 'दर्शनीय' (लुकी) भी कहा गया है। ये मार्क ट्वेन के ही शब्द हैं। एक भाषा में सोचना और दूसरी में लिखना बहुत कठिन काम है। 1891 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के सज्जन एफ०डब्ल्यू० टामस ने इस बात को समझा। अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री एंड प्रास्पैक्ट्स आफ ब्रिटिश एज्यूकेशन इन इंडिया' (1891) में वे लिखते हैं कि भारतवासियों का परिवेश और प्रकृति, वृक्ष, पशु-पक्षी, जीव-जंतु—घरेलू एवं जंगली, साधन और उपकरण, ऋतुरंग, समाज-व्यवस्था, धर्म एवं साहित्य और उनसे संबद्ध विचार और संस्कार ये सब हमारे अंग्रेजी परिवेश और परंपरा से इतने भिन्न हैं कि बहुत सारों के तो नाम भी अंग्रेजी भाषा में नहीं है। यदि कोई संस्कृत का अध्ययन करे तो भी ऐसा ही पाएगा। टामस आगे लिखते हैं कि भारत की अपनी भाषा है जिसका अपना व्याकरण है, उसका अपना दर्शन है जो हजारों वर्ष पुराना है। भारत की भाषाएं उसी परंपरा में जन्मी हैं और वहीं से उनकी आंतरिक एकता का प्रवाह हो रहा है।[12] अंग्रेजी भाषा कैसे उनका स्थान ले सकती है ? कैसे भारत-मानस को छू सकती है ? भारत के नौनिहाल अंग्रेजी कैसे जानते, कैसे लिखते, कैसे बोलते ? फिर भी जितना वे कर पाते हैं उसके लिए साधुवाद के पात्र हैं।

अंग्रेजी भारत में प्राकृत और स्वाभाविक जड़ें नहीं पकड़ पाई। अंग्रेजी शिक्षा मानसिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया का अनुशीलन तो क्या अनुकरण भी नहीं बन पाई। किंतु बरगद फिर भी फैलता रहा। विचित्र बरगद था यह, इसकी शाखाएं भारत में थीं और जड़ें इंग्लैंड में। पानी का बिल छायार्थी देते थे। किस आशा में ? नौकरी, कुर्सी, पंखा, पावर। साधन ? अंग्रेजी के शब्द, उनके सही स्पेलिंग, सरकारी प्रतियोगिता। शिक्षा ? नौकरी को छोड़कर शिक्षा क्या और जीवन क्या ?[13] सरकारी मंदिर के द्वार खुल जाएं तो वारे के न्यारे। श्याम-गौर को

12. 'फौलोविंग द इक्वेटर', II. पृ० 130-31
13. आर्थर ब्रायंट, 'मकाले', पृ० 58

और क्या चाहिए ?

लार्ड कर्ज़न ने एक बार बादशाह औरंगजेब का हवाला देकर शिक्षा संबंधी एक सच्ची बात कही। उन्होंने कहा कि औरंगजेब के बारे में लिखा है कि उन्होंने खुलेआम अपने वृद्ध गुरु को कुछ अपशब्द कहे कि आपने मुझे शाही जिम्मेदारियां निभाने के लिए उचित रूप से तैयार नहीं किया। मेरी जवानी का अमूल्य समय केवल शब्द ही शब्द सीखने के सूखे लंबे और व्यर्थ काम में बर्बाद करवा दिया। लार्ड कर्ज़न ने कहा कि हमने भारतीय शिक्षा के हर पहलू का निरीक्षण किया और यही कमी पाई। हर जगह यही देखा कि मात्र शब्दों का अध्ययन हो रहा है, विचारों का नहीं। अनाज तो बिखेरा जा रहा है और बर्बाद किया जा रहा है। छिलकों का भक्षण हो रहा है।[14] कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत भाषण में उन्होंने कहा था कि भारतीय शिक्षा केवल खोल है जिसमें से गिरी गायब हो चुकी है।[15] अथवा ऐसी चमकदार सीपी जिसका मोती बिखर चुका है। शिक्षा मात्र छिलका-व्यापार बनकर रह गई।

ऐसा क्यों हुआ ? स्वयं लार्ड कर्ज़न ने 1905 में शिमला शिक्षा सम्मेलन में कहा था कि भारत में शिक्षा की आवश्यकता विद्योपार्जन अथवा संस्कृति के लिए नहीं है, केवल नौकरी पाने के लिए रह गई है। शिक्षा केवल व्यापार है। कालेज भी दुकान है। छिलका-फरोश काउंटर पर नहीं डेस्क के पीछे खड़ा होता है। नाम उसका लाला नहीं लेक्चरर है।[16]

दोषी कौन ? कर्ज़न ही अभियोगी, कर्ज़न ही अभियुक्त। फैसला समय भी नहीं कर पाया। पीड़ित को न नौकरी मिली न मुआवजा। प्रकृति, अनुभूति और कृति तीनों से वंचित रह गया। अनुकृति का शिकार स्वयं उससे भी वंचित रह गया।

14. सर टामस रैले, 'लार्ड कर्ज़न इन इंडिया', पृ० 252
15. वही, पृ० 347
16. वही, पृ० 320

19
कर्ज़न भए उदास

कर्ज़न भारत के उग्रतम शासकों में से एक थे । मक्काले की तरह अहंवादी, चर्चिल जैसे साम्राज्यवादी, भारत के प्रति जुगुप्सामय प्रेम रखने वाले, कर्मठ, कठोर और दंभी । वे साम्राज्य के प्रति अवहेलना को कभी सहन नहीं करते थे । भारत शिक्षा, राज-प्रतिरक्षा, साम्राज्य-विस्तार और संरक्षण कर्जन-कोश में पर्यायवाची शब्द थे । शिक्षा की एक-एक कमजोरी उनको लाल रूमाल बनकर दीखती जिससे वे अपने पूर्ववर्ती राजभक्तों पर भी भिन्नाने लगते । उन्होंने मकाले जैसे भारत-शिक्षा-स्तंभ पर भी एक चोट कर डाली । उन्होंने कह दिया कि उनकी कलम से निकली वाक्शक्ति की झंझा में भारतीय भाषाएं, भारतीय पाठ्य-पुस्तकें और भारतीय भाषाओं के माध्यम से जनशिक्षा सब झुलस गईं ।[1] लार्ड कर्ज़न की शिक्षा संबंधी सारी बातें भावपूर्ण शैली में व्यक्त की गई थीं क्योंकि वे आवेश में आकर बोलते थे ।

कर्ज़न जब भारत आए तो उन्होंने शिक्षा की स्थिति को देखा । वे ऐसा मानते थे कि जनता की शिक्षा का प्रबंध किया जाना चाहिए था और भारती माध्यम से होना चाहिए था । ऐसा नहीं किया गया । यह देखकर उन्हें परेशानी हुई । न केवल जनशिक्षा अपितु भारती भाषाओं का विकास भी नहीं किया गया । उन्होंने कहा कि थोड़े से भारतीयों को छोड़कर भारत की जनता में लंबे समय तक शिक्षा का प्रसार केवल लोकभाषा के माध्यम से ही होना संभव है । हमने यह पाया कि इन भाषाओं की न केवल अवहेलना की जा रही है अपितु इनका ह्रास होने का खतरा भी है । और किस कारण ? मात्र अंग्रेजी के बाजार भाव के कारण । और अंग्रेजी भी ऐसी जो किसी काम की नहीं । चलिए जो अंग्रेजी पढ़ने योग्य हैं उनको पढ़ाइए किंतु उनकी बुनियाद भारती भाषा की पक्की आधारशिला पर रखी जानी चाहिए । कोई समाज विदेशी भाषा का सही प्रयोग नहीं कर सकता जब तक वह स्वयं अपनी भाषा का साधिकार प्रयोग न कर सके ।[2]

लार्ड कर्ज़न के समय में और पहले भी बार-बार एक बात नोट की गई थी कि केवल अंग्रेजी शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया है । तो क्या अंग्रेजी शिक्षा कामयाब हुई ? लार्ड कर्ज़न के मतानुसार कालेज तथा यूनिवर्सिटी दोनों ही नाकाम रहे । पाठ्यक्रम और परीक्षा पद्धति दोनों ही ऐसे थे कि परिश्रम तो अधिकाधिक अपेक्षित था किंतु स्तर नीचे ही नीचे जा रहा था । विद्यार्थी एक क्लास-रूम से दूसरे की ओर और एक परीक्षा से दूसरी की ओर भेड़-बकरियों की तरह दौड़ाए

1. सर टामस रैले, 'लार्ड कर्ज़न इन इंडिया', पृ० 350
2. वही, पृ० 351

जा रहे हैं । पाठ्य पुस्तकें और उनका चयन खराब, डिग्रीज की तलाश केवल बाजारी दाम के लिए, सैनिट्स में भीड़ जिनका चयन भी शिक्षेतर आधार पर किया गया, सिंडीकेट्स जिनके पास अधिकार कोई नहीं । भारी-भरकम सिस्टम जो चल तो रहा है किंतु दिशा कोई नहीं । इस विशाल नाटक के ऊपर एक भयंकर, विरूप, बृहदाकार बेताल की छाया—रट्टा, रटंत, रटंतम् ।[3]

कर्ज़न तो राजरक्षा और साम्राज्य-विस्तार को अपना परम धर्म मानते थे । सारे ही अंग्रेज शासक ऐसा मानते आए थे किंतु कर्ज़न के समय भारत ही सारे साम्राज्य के विस्तार और व्यवस्था का केंद्र बन गया था । मकाले ने इंग्लैंड में खड़े होकर साम्राज्य का सूर्योदय भारत में होते देखा था । कर्ज़न ने भारत में खड़े होकर साम्राज्य-सूर्य को चरमारोहण अवस्था में देखा और सोचा कि इंग्लैंड यदि उसे अस्ताचल में जाने से रोक सकता है तो केवल भारत के आधार पर । उन्होंने कहा : जैसे मैं आज की परिस्थितियों को देखता हूं मुझे सारे एशिया का राज-केंद्र हिंदुस्तान में दिखाई दे रहा है । यदि इंग्लैंड के लोग जानते हों तो सारी दुनिया पर राज करने की चाबी उनके हाथ में आ चुकी है । सारी वे समस्याएं जिनका सामना एशिया में करना पड़ सकता है वे भारत की सीमाओं के अंदर ही देखी जा सकती हैं । भारत केंद्रस्थ ही नहीं अपितु निर्णायक स्थिति में है क्योंकि वह अपने आस-पास और दूरस्थ पड़ोसी देशों के राजनीतिक भविष्य पर पूरा प्रभाव डाल सकता है । यही नहीं, उन देशों की किस्मत भारत की धुरी पर घूमती है । अफगानिस्तान की स्वतंत्रता, ईरान के कौमी अस्तित्व का बने रहना, बगदाद में तुर्की राज्य का जारी रहना, ये सारी समस्याएं कलकत्ते की सत्ता पर निर्भर करती हैं । इतना ही नहीं, भारत के प्रभाव का उदय होकर विस्तार होने लगा है और निकटवर्ती महाद्वीपों को छूने लगा है और बास्फोरस और मिस्र के भविष्य को भी दिशा दे सकता है । केवल पश्चिम में ही नहीं, पूर्व में भी भारत का प्रभाव वैसा ही है ।''यह स्थिति है कैसर-ए-हिंद के भारतीय साम्राज्य की ।[4] किसी भी हालत में कर्ज़न यह नहीं चाहते थे कि ब्रिटिश साम्राज्य की भारत केंद्रस्थ सत्ता को किसी प्रकार की भी क्षति पहुंचे । कर्ज़न साम्राज्य धर्म पर कटिबद्ध अडिग प्रहरी की तरह खड़े थे, पलक झपकने को भी तैयार न थे ।

कर्ज़न इतने सतर्क थे कि दीवे तले अंधेरे को भी तुरंत भांप लेते थे । जैसे उन्होंने यूरोप और एशिया पर विहंगम दृष्टि डाली वैसे ही भारत में उभरते हुए एक नए खतरे को भी देख लिया । यह खतरा वही था जिसे ग्रांट ने स्वयं देख लिया था और मकाले ने भी 1833 में देख लिया था । यह खतरा अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की ओर से उभर रहा था । इंडियन नेशनल कांग्रेस का जन्म हो चुका था ।

कर्ज़न के समय तक परिस्थितियां और बदल चुकी थीं । भारत का सामूहिक ईसाईकरण तो गई-बीती कहानी हो चुका था । 1857, आर्य समाज, ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज, देव समाज, रामकृष्ण मिशन, इन सबकी चुनौती सामने खड़ी थी । राजनीतिक और शासन सत्ता में

3. सर टामस रैले, 'लार्ड कर्ज़न इन इंडिया', पृ० 352
4. रॉनल्डशे, 'लाइफ आफ लार्ड कर्ज़न', I, पृ० 309

न्यायोचित हिस्सा मांगने वालों की ललकर सुनाई दे रही थी, और यह कल्पना नहीं वास्तविकता थी । कर्ज़न पढ़े-लिखे लोगों से ऐसी आशा नहीं करते थे । क्या ये लोग इतना भी नहीं समझते थे कि ब्रिटिश सरकार यह भली भांति जानती है कि इन्हें क्या देना है, क्या नहीं देना, ये काहे के पात्र हैं, काहे के नहीं ? कर्ज़न परेशान हो गए, मानो सारी अंग्रेजी सत्ता अपने किए पर पछताने लगी हो ।

कर्ज़न ने इरेस्मस को याद किया । इरेस्मस (1466-1536) शुद्ध मानववादी थे और उच्च कोटि के बुद्धिजीवी थे । अपने तर्कसंगत विचारों के कारण वे अंधविश्वास के विरोधी और ईसाई मत में सुधार आंदोलन (रिफर्मेशन) के जन्मदाता समझे जाते हैं । रिफर्मेशन आगे चलकर ऐसा यूरोपव्यापी आंदोलन बन गया जिसका स्वयं इरेस्मस को भी खयाल नहीं था । कर्ज़न महोदय के अनुसार जैसे इरेस्मस के बुद्धिवाद के उलटे आशातीत परिणाम निकले थे वैसे ही भारत में अंग्रेजी शिक्षा के दुष्परिणाम निकलने लगे थे । इरेस्मस कहते थे कि मैंने तो केवल एक मुर्गी का अंडा दिया था किंतु उसमें से निकला (रिफर्मेशन रूपी) एक लड़ाकू मुर्गा । इसी प्रकार, कर्ज़न महोदय के अनुसार, "अंग्रेजी शिक्षा को चालू तो इसलिए किया था कि भारत के लोग अंधविश्वास की कीचड़ में से निकल जाएंगे किंतु पढ़-लिख कर वे हमें ही आंखें दिखाने लगे ।" उन्होंने कहा कि अंग्रेजी शिक्षा ने तो ऐसी मानसिक स्थिति को जन्म दे दिया जिससे शिक्षितों का चरित्र ही उलटमार्गी हो गया । उनका चरित्र अनियमित, अनुशासनहीन, असंतुष्ट और कहीं-कहीं तो वास्तव में राजद्रोही बन गया ।[5] इन तथाकथित नेशनलिस्टों का जन्म हुआ तो केवल अंग्रेजी शिक्षा के अदृष्ट, अनैतिक और अराजनीतिक परिणाम के रूप में । यह अत्यंत खेद की बात रही ।

लार्ड कर्ज़न के अनुसार स्कूल और कालेज की शिक्षा तो केवल छिलका-व्यापार बनकर रह गई थी । इन नेशनलिस्टों को देखते हुए यूनिवर्सिटी शिक्षा केवल भाषण-बाजार बनकर रह गई । कर्ज़न समझते थे कि यूनिवर्सिटी शिक्षित ये नए नौजवान नेता, पत्रकार अपने आपको राजनीतिज्ञ और नीतिनिपुण कहने वाले ज्बान चलाने में और भाषण झाड़ने में माहिर थे । कर्ज़न कहते थे कि यह मत सोचिए कि जो आदमी गरमा-गरम भाषण दे सकता है वह राजकुशल भी है । यह कदापि आवश्यक नहीं है । वाचाल की केवल जीभ दौड़ती है दिमाग नहीं । सच तो यह है कि मात्र भाषण कभी भी कठोर कर्मठता का स्थान नहीं ले सकता । कर्ज़न महोदय को पत्रकारों से तो अत्यंत घृणा थी । वे कहते थे कि याद रखिए कि जब तुम संपादकीय कालम में 'हम' शब्द का प्रयोग करते हो तो 'हम' का अर्थ है केवल 'मैं', एक व्यक्ति मात्र, और इस एक व्यक्ति की गिनती तीस करोड़ में केवल एक, नगण्य । वे कहते थे कि भारत के तथाकथित शिक्षित और बुद्धिजीवी लोगों का यह दावा कि हम भारत का नेतृत्व करेंगे, झूठा था । उन्हें कोई अधिकार नहीं था कि वे भारत के नेतृत्व के सपने देखें और लोगों को गुमराह करें । और नई राष्ट्रीयता ? इसके प्रवर्तकों को तो वे धक्के मारकर बाहर निकाल देना चाहते थे ।

किंतु ये मनचले थे कौन ? और यह कांग्रेस नाम की चीज क्या थी ? लार्ड डफरिन ने

5. रॉनल्डशे, 'लाइफ आफ लार्ड कर्ज़न', I, पृ० 316

कहा था कि इंडियन नेशनल कांग्रेस केवल बाबू लोगों का आंदोलन है जो कि एक बाबू-पार्लमेंट खड़ी करना चाहते हैं ।[6] लार्ड क्रास जो लार्ड लैंसडाउन के समय सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया थे उन्होंने लार्ड लैंसडाउन को लिखा था कि बाबू लोग भारत की जनता के प्रतिनिधि कभी नहीं होंगे । वे केवल अपने प्रतिनिधि होंगे ।[7] कर्ज़न के मतानुसार ये बाबू लोग थे तो कुछ भी नहीं किंतु आकाश के सपने लेने लगे थे और चांद को तोड़कर खेलना चाहते थे । उनको पूरा विश्वास था कि भारतीयों को उनके बलबूते के अनुसार उनकी योग्यता के अनुरूप स्थान, नियुक्तियां और नौकरियां दी जा चुकी थीं और सरकार ने यथासंभव भारतीयों की आवश्यकताओं की पूर्ति और उनके अधिकारों की रक्षा की थी । इससे आगे राजनीतिक रियायतें उन्होंने कोई भी नहीं दी थीं क्योंकि वे समझते थे कि ऐसा करना राजहित, राजकौशल और बुद्धिमत्ता के विरुद्ध होगा और स्वयं भारत के हित में भी नहीं होगा । ऐसा करने में वे केवल अपने कर्तव्य का पालन कर रहे थे और किसी प्रकार भी भूल-सुधार या क्षमा-याचना के लिए तैयार नहीं थे । यदि केवल कर्तव्य-पालन करने के लिए कुछ लोग उनकी निंदा करते थे तो उन्हें उनकी कोई परवाह नहीं थी । उन्हें विश्वास होने लगा था कि कोई चीज सड़ रही है । समाज के विभिन्न अंगों में न कोई सामंजस्य न तालमेल, जीवन और जीवनचर्या के मूलभूत नियमों और सिद्धांतों का अभाव, सब ओर सुस्ती ही सुस्ती, स्तर गिर चुके थे, देश और समाज में एक नए जीवन और नई स्फूर्ति की आवश्यकता थी ।[8]

लार्ड कर्ज़न उदास हो गए । अंग्रेजी शिक्षा सफल नहीं हुई । न तो विद्यार्थियों का मानसिक विकास कर पाई और न जनता को रास्ता दिखाने वाले सही नेताओं का निर्माण कर पाई । जो तथाकथित नेता बन भी गए वे थे केवल विकृत और दूषित, जो जनता को गुमराह कर रहे थे । जनता शिक्षा जो भारती के माध्यम से ही हो सकती थी वह हुई नहीं । कर्ज़न स्थिति को सुधारने के लिए कृतसंकल्प हो गए । राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने जो भी किया हो सो किया हो, यहां हम उनके शिक्षा संबंधी विचारों की ही चर्चा करेंगे । वास्तव में उनका शिक्षा संबंधी प्रोग्राम भी था । राजप्रहरी तो वे थे ही, राजसेवा में ही उन्होंने शिक्षा कार्यक्रम को जोड़ दिया । अंग्रेजी शिक्षा राजसेवी तो पहले से ही रही थी । कर्ज़न एक शती बाद ग्रांट मकाले की प्रतिच्छाया के रूप में सोच रहे थे और काम कर रहे थे ।

कर्ज़न महोदय ने शिक्षा को दो भागों में बांटा और दोनों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया : एक प्रारंभिक शिक्षा और दूसरा यूनिवर्सिटी शिक्षा ।

प्रारंभिक शिक्षा के माध्यम से कर्ज़न महोदय भारत के नए नेताओं को उन्हीं की भाषा में उत्तर देना चाहते थे । इस विषय में 1857 के पश्चात् सरकार स्वयं जनता की शिक्षा के विषय में चिंतित हो गई थी । उन्होंने सोचा कि जनता को अपने साथ रखने का एकमात्र माध्यम यही

6. उद्धृत : ताराचन्द, 'फ्रीडम मूवमेंट' (भारत सरकार, 1967), II, पृ० 508
7. वही, पृ० 511
8. रॉनल्डशे, 'लाइफ ऑफ लार्ड कर्ज़न', I, पृ० 348-49

है कि उन्हें शिक्षा दी जाए और ब्रिटिश राज की देन के बारे में उन्हें जानकारी देकर उनकी भावनाओं को जीता जाए । 1854 के शिक्षा भारती प्रस्ताव में जनता की शिक्षा पर बल दिया गया था पर इस दिशा में कोई विशेष कार्य किया नहीं गया था । लार्ड कर्ज़न जब नवशिक्षितों की राजनीतिक गतिविधियों से दुखी हुए तो उन्होंने जनता की शिक्षा पर बल देना उचित समझा । उन्होंने सोचा कि भारत में सबसे बड़ा खतरा क्या हो सकता है ? अविश्वास, अंधविश्वास, अपराध, विद्रोह । इन सब की जड़ क्या है ? किसानों का असंतोष और जनता का दुख । इनका आदिस्रोत क्या है ? उन्हें केवल एक ही उत्तर मिला : अज्ञान । और उसका प्रतिकार ? विद्या, शिक्षा । कर्ज़न महोदय को विश्वास हो गया कि सरकार को जनता का साथ देना चाहिए, उन्हें सुखी बनाना चाहिए, क्योंकि वे जितने सुखी होंगे उतने ही राज-समाज के लिए लाभकारी होंगे ।[9]

कर्ज़न स्वयं को दीनबंधु समझते थे और उनकी सेवा कर पाना अपना धर्म समझते थे : "मैं अपनी आत्मा को टटोलता हूं, अपने आपसे पूछता हूं कि भारत की जनता कौन और कहां है, और स्वयं को धन्य मानता हूं कि उनकी कुछ सेवा करने का अवसर मिला है ।"[10] उन्होंने अपने प्रश्नों का उत्तर भी अपने आप ही दे लिया : "मेरे लिए भारत की जनता न कोई वर्ग-विशेष है, न उस वर्ग का कोई अंग-विशेष है । मेरी दृष्टि में तो एक बृहत् क्षेत्र है जहां असंख्य जनसमुदाय रहता है जो वर्ग-विशेष से भिन्न है । यह भारत की वह गरीब जनता है जो खेतिहर हैं, मौन, विनम्र, सहनशील, वास्तविक जनता, भारत का 80 प्रतिशत जो खेती करके गुजारा करते हैं । नीति क्या और कैसी होती है वे नहीं जानते, किंतु नीति का अच्छा-बुरा प्रभाव उन पर पड़ता है और वे उसे झेलते हैं । उनके अपने देशवासी उन्हें भूले हुए हैं किंतु मैं उन्हें याद रखता हूं । मेरी प्रत्येक नीति की पृष्ठभूमि में वे रहते हैं । हमारे बजटशेष की व्यय-व्यवस्था और विवरण में वे ही सामने होते हैं । शहरों की चकाचौंध में वे नहीं दीखते और न ही वहां की गरीबी में दीखते । वे पत्र नहीं पढ़ते, पढ़ ही नहीं सकते । उन्हें राजनीति नहीं आती किंतु वे भारत का मेरुदण्ड हैं, और उसका शक्तिस्रोत हैं । वे पसीना बहाते हैं, हल चलाते हैं और भारत की राष्ट्रीय आय का चौथा भाग अपने परिश्रम से पैदा करते हैं । प्रत्येक वाइसराय की चिंता का विषय, प्रथम और अंतिम ये किसान ही होने चाहिए ।"[11]

कर्ज़न के सपनों का भारत वैसा ही था जैसा मकाले की कल्पना का, लहलहाते धान के खेत, बरगद बाबा की छाया में, ग्राम देवता के सान्निध्य में किलकारी मारकर खेलते बच्चे, बराबर की बावड़ी की सीढ़ियों से उतरती-चढ़ती गांव की गोरी, बदन को आंचल में लपेटे गागर में सागर को समेटे । मकाले किसान को भूल गए थे । उन्हें रंग बदलते बाबू की चिंता थी । कर्ज़न महोदय ने किसान को याद किया और ग्रामीण भारत की तस्वीर में वह रंग भी भर दिया । वे

9. सर पर्सिवल स्पियर, 'इंडिया' (एन आर्बर, 1969), पृ० 316
10. वही, पृ० 585
11. वही, पृ० 584

कह उठे कि वह आदमी जो गांव या छोटे कस्बे में रहता है और अपने आचरण और परिश्रम से अपने देशवासियों की सेवा करके उनके जीवन को सुखद बनाने में अपना योगदान देता है वह सैकड़ों मंचों से भाषण झाड़ने वाले नेताओं से कहीं बड़ा देशभक्त है ।[12] इस प्रकार कर्ज़न की कल्पना का भारत था एक बृहदेश, हरे-भरे खेत, खेती करने वाले और पशुपालन करने वाले किसान मजदूर । अंतर यह था कि गांधी जी चाहते थे कि ये किसान मजदूर केवल भगवान भरोसे न बैठें बल्कि उसके आशीर्वाद से अपने कर्म और परिश्रम से अपने देश के जीवन को बनाएं । कर्ज़न कहते थे कि किसान केवल खेती करें और दूसरे सारे प्रश्न सरकार के भरोसे छोड़ दें । आगे और ऊपर की सोचना सरकार का काम । मनुष्य का कर्तव्य यह है कि भगवान ने जहां उसे जन्म दे दिया वहां बैठे और जो भी उसका काम है वही करे । अंग्रेज को तो भारत में माई-बाप और भाग्यविधाता भी कहा जाता था ।

ग्रामीण शिक्षा के संबंध में डब्ल्यू० एच० शार्प ने 1904 में अपने विचार और शिक्षा विभाग का कार्यक्रम व्यक्त किया था । शिक्षा पद्धति को व्यावहारिक और उपयोगी बनाया गया । नैतिक शिक्षा को धर्मशिक्षा से अलग रखा गया क्योंकि सरकार के इरादों के अनुसार सरकारी स्कूलों को धार्मिक रूप नहीं दिया जा सकता था । नैतिक शिक्षा का रूप यह था : सच्चाई और ईमानदारी से रहना, खाना-पीना-सोना उचित मात्रा में, अधिक नहीं, गंदगी और बीमारी से बचना, कानून को मानना और अफसरों का आदर करना । इसके साथ-साथ पूर्वीय विद्वानों के उपदेश तथा सूक्तियां पाठ्य-पुस्तकों में रखे गए थे । कुछ इतिहास संबंधी पाठ थे जिनमें अंग्रेजी सरकार और उससे जो लाभ भारत को हुए इस संबंध में बताया गया था । बौद्धिक शिक्षा ? बस इतनी जितनी अत्यंतावश्यक थी अधिक नहीं, अर्थात् लिखना, पढ़ना और दैनिक जीवन के लिए अनिवार्य हिसाब, मामूली-सा । कविता, कहानियां और शुद्ध हिंदी साहित्य इतना कि विद्यार्थी की रुचि पढ़ने में बनी रहे । शारीरिक शिक्षा देसी कसरत और एकता के लिए दी जाती थी ।[13]

ग्रामीण शिक्षा के माध्यम से लार्ड कर्ज़न की सरकार भारत में शांत और धीमी गति से एक नई क्रांति लाना चाहती थी और अपने तरीके से नए नेताओं को उन्हीं की भाषा में चुनौती देना चाहती थी । शिक्षा का उद्देश्य शार्प महोदय ने हर्बर्ट स्पेंसर के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया : शिक्षा का उद्देश्य नैतिक विकास है । शिक्षा से मनुष्य को एक ही प्रश्न का उत्तर मिलना चाहिए और वह प्रश्न है कि जिएं कैसे ? भारत एक परिवर्तनशील युग में से गुजर रहा है और परिवर्तन अंततोगत्वा किसान कल्याण के लिए है । किसान के संबंध में यह सोचा गया कि वह अपने परिवेश के बंधन में इतना जकड़ा हुआ था कि उस जकड़न से बाहर निकलने के लिए अपेक्षित मानसिक शक्ति खो बैठा था । यदि उसे शिक्षा के द्वारा उस बंधन से निकलने की मानसिक क्षमता को वापस देना उचित था तो शिक्षा का लक्ष्य उद्देश्यानुसार निर्धारित किया जाना

12. सर पर्सिवल स्पियर, 'इंडिया' (एन आर्बर, 1969), पृ० 584, 496
13. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकर्ड्स', I, पृ० 133-35

चाहिए था । अतः प्रारंभिक शिक्षा का लक्ष्य बना : विद्यार्थी को विचारशील और प्रयोगशील बनाना ताकि वह अपने परिवेश का निरीक्षण कर सके, पारिवेशिक तथ्यों का विश्लेषण कर सके, स्वयं निष्कर्ष निकाल सके और उस आधार पर जीवन संबंधी सिद्धांतों तक पहुंच सके ।

पर्यवेक्षण, निरीक्षण, विश्लेषण, निष्कर्ष, जीवन सिद्धांत, यह सब साइंस की प्रक्रिया है जो छोटी प्रयोगशाला से लेकर बड़ी से बड़ी तक सही उतरती है । सारी दुनिया में प्राकृतिक, सामाजिक, आर्थिक और मानसिक जकड़न से छूटने की यही प्रक्रिया रही है । इसी के कारण तकनीकी और बौद्धिक एवं राजनीतिक क्रांतियां संभव हो सकी हैं । क्या ब्रिटिश सरकार शिक्षा के द्वारा ग्रामीण जनता को क्रांतिशील बनाना चाहती थी ?

कभी नहीं । शिक्षा का आधार राजनीतिक विचार या सिद्धांत नहीं थे । यह समझना कि शिक्षा के माध्यम से समता अथवा पूर्णता की प्राप्ति की जा सकती है मात्र पागलपन था । शिक्षा नीति हर्बर्ट स्पेंसर के साथ-साथ कांडोरसे के सिद्धांतों के अनुसार बनाई गई । प्राइमरी शिक्षा का लक्ष्य ? केवल इतना पढ़ाना जितना न्यूनतम आवश्यकता को पूरा करने के लिए पर्याप्त हो । वह क्या ? विद्यार्थी अथवा व्यक्ति अपने परिवेश में अपना दिशा-निदेश स्वयं कर सके और अपने अधिकारों को पूरे तौर पर पहचान सके और अधिकारानुसार जी सके । और कांडोरसे की बात में शार्प महोदय ने अपनी बात जोड़ दी : "अधिकारों का अर्थ वे अधिकार नहीं हैं जो एक स्वायत्त रिपब्लिक के अंदर किसी भी नागरिक के होते हैं । ये अधिकार केवल वे हैं जो एक ग्रामीण समाज के अंदर किसी भी व्यक्ति के होते हैं ।"[14] शार्प महोदय ने आगे कहा कि शिक्षा के आधार पर व्यक्ति जागेगा अवश्य, अपने हितों को समझेगा भी, दूसरों के धोखे में भी नहीं आएगा किंतु हम यह प्रयास करेंगे कि वह रहे सदा रैयत ।[15] अर्थात् वह अपने परिवेश का निरीक्षण तो करे, सोचे भी, धोखे से भी बचे, किंतु रहे सरकारी और अंग्रेजी परिधि के अंदर-अंदर । यही कारण था कि बच्चों को ब्रिटिश राज की देन के संबंध में बहुत कुछ बताया जाता था । बच्चे ब्रिटिश राष्ट्रगीत भी गाते थे : शाहंशाह सलामत रहे या इलाही । यदि रैयत को रैयत ही रहना तो आर्थिक और सामाजिक ढांचे में जो ऊपर हैं वे ऊपर ही रहेंगे और जो नीचे वर्ग के लोग पसीना बहा रहे हैं वे वैसे ही जहां हैं वहीं बहाते रहेंगे । जहां हो, जैसे हो, ठीक हो । सोचो किंतु इसी को समझो और फालतू चिंता मत करो ।

भारतीय धर्म और सभ्यता के संबंध में एक धारणा पश्चिम में रही है और आज भी है, और वह यह है कि भारत के लोग भाग्यवादी हैं और उनको कर्म करने का यदि कोई प्रोत्साहन मिला है तो केवल अंग्रेजी से । क्योंकि यहां पर हम परिवेश को पकड़ने और विचार-स्वातंत्र्य की बात कर रहे हैं इसलिए इस विषय पर भी चर्चा करना उचित रहेगा । जब रैयत को रैयत ही रहना था तो शिक्षा भाग्यवादी तो बन ही गई । शार्प महोदय ने स्वयं यह कहा कि यह न समझें कि शिक्षा के आधार पर कुछ और बन जाएगा । शांत क्रांति के समय भी वह रहेगा वही जो विधाता ने

14. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', I, पृ० 133-35
15. वही, पृ० 132-36

उसकी किस्मत में लिख दिया है । किसी भी देश का विकास होता है तो केवल उसकी आंतरिक जीवन-शैली की लकीरों के साथ-साथ ही होता है । भारत के पुराने विचारों वाले किसानों की आज की हालत को देखते हुए इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता । यदि उनको यूरोपियन सांचे में ढालने की कोशिश की गई तो पागलपन से कम नहीं होगा । केवल त्वचा को खुरचने से योनि नहीं बदली जाया करती । शिक्षा और स्कूल उनके स्वाभाविक गुणों का विकास कर सकते हैं और उनकी त्रुटियों को दूर भी कर सकते हैं । स्कूल उनको यह तो सिखाएंगे कि अपने परिवेश का उत्तम लाभ कैसे उठाएं, किंतु यह नहीं कि परिवेश को बदलें कैसे ।[16] इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य मानव को प्रकृति और प्रकृति की जकड़न से छुड़ाना तो अवश्य रहा किंतु फिर भी वह उसे मानसिक स्वतंत्रता की ओर ले जाना नहीं था । अंग्रेजी और सरकारी परिवेश से बाहर की भी कोई सोच सके यह कदापि कल्पना नहीं की गई थी । शिक्षा का उद्देश्य केवल राजभक्ति और सेवा ही रहा ।

प्रारंभिक शिक्षा के उद्देश्य, लक्ष्य और साधनों का अध्ययन करने के पश्चात् यूनिवर्सिटी शिक्षा की ओर आएं । कर्ज़न महोदय यूनिवर्सिटी शिक्षा से अत्यंत परेशान थे क्योंकि उन्हें नए नेताओं से घृणा थी । हम भी यह देख चुके हैं कि यूनिवर्सिटी शिक्षा अंग्रेजी माध्यम के कारण केवल शब्दाडंबर बन गई थी । नौकरी के लिए परीक्षा पास करने का गुरुमंत्र बन गया तोता रटंत । कर्ज़न महोदय ने देखा कि स्नातक या तो मूर्ख के मूर्ख रह गए या बन गए झंडाधारी । यूनिवर्सिटी क्या हो इस विषय पर उन्होंने कलकत्ता यूनिवर्सिटी दीक्षांत समारोह के अवसर पर अपने विचार 1904 में व्यक्त किए ।

कर्ज़न महोदय के सामने आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज की तस्वीर थी । उन्हें वे आदर्श यूनिवर्सिटी मानते थे और यह आशा करते थे कि आज की यूनिवर्सिटी उन्हीं के अनुरूप होनी चाहिए । यूनिवर्सिटी सत्यम् (ट्रुथ), शिवम् (मारल गुडनेस), सुंदरम् (कल्चर) के दर्शन और संरचना का संस्थान है । इनकी खोज और अनुशीलन साधन रूप में नहीं अपितु साध्य रूप में होनी चाहिए । अतः कर्ज़न के मतानुसार यूनिवर्सिटी शिक्षा का उद्देश्य था सत्यम् शिवम् सुंदरम् का दर्शन, अभिव्यक्ति और अनुशीलन । लक्ष्य ? विद्या उपार्जन और चरित्र-निर्माण । प्रक्रिया ? स्वयं के अनुभव में से गुजर कर सत्य की कसौटी पर अपने शील-स्वभाव, जीवन-सिद्धांत और जीवन-दर्शन को कसना । साधन ? ऐसा पाठ्यक्रम जिसके पढ़ने से विद्यार्थी का मानसिक विकास हो ताकि वह केवल मशीन या दूसरों का पुर्जा न बने और स्वयं चिंतन कर सके, और प्रोफेसर ऐसे जो अपने शिष्यों में श्रद्धा का संचार कर सकें और शिष्य उनके सान्निध्य में अपने चरित्र का निर्माण कर सकें ।[17]

इन सब मान्यताओं के मूल में एक विचार है : मनुष्य शिक्षा के माध्यम से स्वाध्याय और प्रवचन के द्वारा विचार-स्वातंत्र्य को प्राप्त करके अपने चरित्र का निर्माण कर सकता है और अपने

16. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', I, पृ० 132-36
17. सर पर्सिवल स्पियर, 'इंडिया', (एन आर्बर, 1969) पृ० 343, 245

परिवेश और उससे प्राप्त परंपरा से ऊपर उठ सकता है और एक नवीन सत्य के दर्शन कर सकता है । हम यह भी कह सकते हैं कि प्राप्तिज्ञ के स्तर से उठकर इष्टिज्ञ के स्तर पर जा सकता है । युगपुरुषों का निर्माण इसी प्रकार होता है । यदि मनुष्य केवल परिवेश और परंपरा से प्राप्त अनुभूति तक ही सीमित रहता तो मानव सभ्यता और संस्कृति का विकास नहीं हो सकता था । प्राकृतिक अनुभूति से आगे दर्शन, कृति और संस्कृति मनुष्य का स्वाभाविक और नैसर्गिक धर्म है क्योंकि इनके बिना वह कर्तव्य की ओर अग्रसर न होकर मात्र भोक्तृत्व तक ही सीमित रह जाता है । दर्शनशील, कर्तृत्व का धनी और बुद्धिजीवी मनुष्य अपने परिवेश और उसके प्रतिष्ठित और जाने-माने सिद्धांतों और संस्थानों को चुनौती दे सकता है । महात्मा बुद्ध, वीर महावीर, स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी ऐसे ही युगपुरुष थे । ब्रिटेन के इतिहास को बदलने वाले मनचले भी ऐसे ही युगपुरुष थे । सिद्धांत रूप में कर्ज़न चाहते थे कि भारतीय विश्वविद्यालय ऐसे नौजवानों का निर्माण करें । कर्ज़न जब देखते कि नौजवान नौकरी की तलाश में तोता-रटंत में लगे अपने जीवन को व्यर्थ खो रहे हैं तो वे क्षुब्ध हो उठते । निराशा और उदासीनता की अति होती है तो क्षोभ उत्पन्न होता है । क्षोभ की मुद्रा में वे भारतीय चरित्र को ही लताड़ने लगते । उन्होंने कहा कि भारतीय चरित्र में दो बड़ी त्रुटियां हैं : एक तो बुद्धिमत्ता से इनकार अर्थात् मूढ़त्व एवं आत्मविश्वास का अभाव और दूसरी, उच्चकोटि की चातुरी और वाक्छल । इस पूर्वीय चरित्र के प्रतिपक्ष में पश्चिमीय चरित्र के गुण थे विचार-स्वातंत्र्य और सीधी सत्य-प्रतिष्ठा । कलकत्ता विश्वविद्यालय के ही दीक्षांत समारोह के अवसर पर 1902 और 1905 में उन्होंने ये विचार व्यक्त किए । उन्होंने कहा कि भारतीय चरित्र की एक भारी कमी तो यह है कि यहां पर मनुष्य जड़मति होकर मशीन की तरह काम करता है । करता है मेहनत से और एक विश्वासपात्र सहायक की तरह, किंतु समझदारी से नहीं करता और इसीलिए मूढ़ की तरह करता है । अर्थात् समझ से काम नहीं लेता, वह केवल एक जड़ मशीन बनकर रह जाता है । यदि कोई ऐसा अवसर आ जाए कि नियम-विनियम दिशा-निदेश नहीं कर रहे क्योंकि वहां उसकी चर्चा है ही नहीं, और न ही कोई पूर्ववर्ती निर्णय इस विषय में है, तो उस परिस्थिति में वह किंकर्तव्यविमूढ़ होकर हाथ पर हाथ धरकर बैठा रहेगा और कोई भी निर्णय ले नहीं पाएगा । उसे यह सिखाया ही नहीं गया कि स्वतंत्रतापूर्वक निर्णय कैसे लेना है और यही कारण है कि स्वयं निर्णय लेने की बजाय वह दूसरों की ओर देखता है कि वे उसे मार्ग दिखाएं ।

इसके पश्चात् उन्होंने पश्चिमी प्रकार के सत्य के संबंध में कहा कि सत्य का उच्चतम आदर्श केवल पश्चिमी विचारों से ही मिल सकता है । पूर्वीय विचारधारा और परंपरा में चालाकी, मक्कारी और वाक्छल को अधिक आदर मिला है । वास्तव में पूर्वीय कूटनीति (ओरियंटल डिप्लोमेसी) का अर्थ है कोई ऐसी बात जो अत्यंत वक्र, कुटिलतापूर्ण और दुर्बोध हो । पूर्वीय साहित्य में भी यही बात मिलती है । भारतीय महाकाव्यों के अंदर सत्य की प्रशंसा तो धर्म के रूप में की गई है किंतु बहुधा उसके साथ कोई न कोई ऐसी बात जोड़ दी गई है कि लक्ष्य तो सत्य ही बना रहता है किंतु सत्य के स्थान पर उलट बात की सिद्धि कर ली जाती

है ।[18] कर्ज़न महोदय का इशारा संभवतः हिरण्याक्ष, रावण, द्रोणाचार्य इत्यादि की मृत्यु की ओर था । वे यूनानी एवं रोमन महाकाव्यों को भूल ही गए । उनके मत में भारतीय चरित्र एक ओर मूढ़ता और दूसरी ओर चालाकी का पुलिंदा था । ऐसे ही चालाक लोग नए भारत का नेतृत्व करने का दम भरते थे । कर्ज़न उनकी शक्ति को तोड़ देना चाहते थे और यह चाहते थे कि यूनिवर्सिटी ग्रेज्युएट्स पश्चिमी प्रकार के सत्य के पुजारी बनें और स्वतंत्रतापूर्वक निर्णय ले सकें ।

अंग्रेज शिक्षाशास्त्री भी साधारणतया अपने राजनीतिक उत्तरदायित्व को नहीं भूल पाते थे । कर्ज़न तो थे ही शासक और राजनीतिज्ञ । वे कैसे भूलते ? तो यह देखना आवश्यक है कि उनके शिक्षा संबंधी सिद्धांतों और राजनीतिक आवश्यकताओं के बीच कोई तालमेल था या नहीं । यदि इस दृष्टिकोण से उनके विचारों का अध्ययन करें तो हमें याद रखना चाहिए कि सारे ही ब्रिटिश शासक अथवा विचारक यह मानते थे कि भारत में ब्रिटिश पदार्पण के साथ ही वहां पर एक वैचारिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक एवं सामाजिक क्रांति प्रारंभ हो गई थी और उसी क्रांति को आगे ले जाना अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य था । ग्रांट, मकाले इत्यादि ऐसा ही मानते थे । किंतु जैसे ही उनके मन में राजनीतिक तथा राज-संबंधी भावना का उदय हुआ, उनके राजनीतिक शिक्षा-सिद्धांत स्वच्छ शिक्षा-सिद्धांतों से टकरा गए । शासन और राजनीति के रंग में रंगे शिक्षा-सिद्धांत इस प्रकार के थे : प्रथम तो शिक्षा ही केवल ऐसा साधन है जिससे समाज और देश की उन्नति होती है । तथापि भारत जैसे देश में तो आज की विकास-स्थिति को देखते हुए शिक्षा सर्वप्रथम आवश्यकता है । यहां पर शिक्षा की आवश्यकता प्रधान रूप से विद्या तथा संस्कृति के साधन के रूप में नहीं है । यहां शिक्षा की आवश्यकता मुख्यतया रोजगार के लिए है क्योंकि रोजगार से ही देश की आर्थिक उन्नति होती है और जनता का प्रत्येक वर्ग ऊंचा उठने का मार्ग ढूंढ़ता है । भारत में शिक्षा इतनी बौद्धिक आवश्यकता नहीं है जितनी कि सामाजिक और राजनीतिक आवश्यकता है । शिक्षा से ही भारत के नागरिकों को काम मिलेगा । शिक्षा से ही हमारे अफसर तैयार हो सकेंगे । शिक्षा से ही हमारे आर्थिक और औद्योगिक संसाधनों का विकास होगा । शिक्षा से ही यहां के लोग उतनी मात्रा में स्वतंत्रता में भागीदार बनने की योग्यता प्राप्त करेंगे जितनी स्वतंत्रता उनको दी जाएगी । जैसे-जैसे जनता की योग्यता बढ़ेगी उनकी स्वतंत्रता की मात्रा बढ़ती जाएगी । शिक्षा से ही राष्ट्रीय चरित्र का स्वच्छ और स्वस्थ दिशा में निर्माण हो सकेगा ।[19]

शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक विकास, चरित्र-निर्माण और स्वतंत्र विचार एवं कार्यकुशलता तो रहा किंतु रहा केवल ब्रिटिश साम्राज्य की परिधि के अंदर । परिधि के बाहर जो भी विचार स्वतंत्रतापूर्वक और युग-निर्माण के लिए किया गया जैसे कि राष्ट्रीय नेता करते थे, कर्ज़न महोदय के मतानुसार वह सब शिक्षा का काला परिणाम ही था । कर्ज़न उसके कारण उदासीन, निराश तथा क्षुब्ध हो उठते थे । समस्त शिक्षा और भाषा-नीति राज की सेवा में और कुछ नहीं । राज से आगे कुछ नहीं ।

---

18. सर पर्सिवल स्पियर, 'इंडिया' (एन आर्बर, 1969) पृ० 481-82, 491
19. वही, पृ० 347

20

बूर के पूए

लार्ड कर्ज़न के निराशापूर्ण किंतु क्षोभ से भरे शब्दों को सुनकर कुछ लोगों के मन में संभवतः यह आशा जगी होगी कि भारत की शिक्षा पद्धति में कोई न कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आने वाला है। उद्देश्य में परिवर्तन की आशा यदि किसी ने की हो तो उसे निराशा ही मिली होगी। कर्ज़न महोदय साम्राज्य-भक्त थे और शिक्षित नौजवानों से राजभक्ति की प्रबल आशा रखते थे। वे शिक्षा के माध्यम से राजसेवा की दिशा में एक शांत क्रांति लाना चाहते थे। हां, वे यह अवश्य चाहते थे कि शिक्षित लोग सोच-समझकर अपना निर्णय किया करें—वह भी राजसेवा की दिशा में, पर अंधभक्तों की तरह नहीं। ऐसे दिशानिर्दिष्ट मानसिक विकास का माध्यम अंग्रेजी नहीं भारतीय भाषा ही हो सकता था क्योंकि मात्र शब्दों को तो वे केवल छिलका ही मानते थे। अंग्रेजी शब्द भारतीय विद्यार्थियों के लिए थे भी अधिकतर अर्थ-विहीन। अतः आशा यही थी कि मानसिक विकास के लिए भारतीय माध्यम से ही शिक्षा दी जानी चाहिए।

कर्ज़न लार्ड मकाले से उदासीन थे क्योंकि मकाले महोदय की बर्फीली हवा ने तो भारतीय भाषाओं को झुलस दिया था। उन्होंने 1902 में जो भारतीय विश्वविद्यालय आयोग बिठाया उसने भी देखा कि बच्चे अंग्रेजी भाषा को भली प्रकार जानने से पहले ही उसे माध्यम रूप में प्रयोग करना प्रारंभ कर देते हैं और इस कारण उन्हें न भारतीय भाषा आती है न अंग्रेजी। ऐसा कह कर भी कमिशन ने कोई ठोस सुझाव नहीं दिया और यूनिवर्सिटी किस प्रकार कमजोर विद्यार्थियों की विशेष सहायता करे इस पर एक शब्द भी नहीं कहा। उन्होंने सारी जिम्मेदारी स्कूलों पर डाल दी। हिंदी के संबंध में कहा गया कि जब तक बच्चों को स्कूल में सही शिक्षा नहीं मिलेगी, यूनिवर्सिटी कुछ भी नहीं कर पाएगी। अंग्रेजी के संबंध में भी यही कहकर संतोष कर लिया गया कि सारी बीमारी स्कूल में शुरू होती है। यदि यूनिवर्सिटी को अंग्रेजी में अच्छे विद्यार्थी तैयार करने हैं तो इस विषय में स्कूल में अच्छी पढ़ाई होनी चाहिए। स्कूलों के लिए केवल यह सुझाव दिया गया कि अध्यापक योग्य हों, उन्हें वेतन अच्छा मिले, हो सके तो ऐसे अध्यापक हों जिनकी मातृभाषा अंग्रेजी हो, क्लासें छोटी हों और बच्चों के माता-पिता धैर्य से काम लें। अंग्रेजी अध्यापकों जैसी योग्यता वाले ही भारतीय भाषाओं के अध्यापक होने चाहिए।

कमिशन ने अंग्रेजी के व्यावसायिक और व्यापारी महत्त्व को भी समझा। इस बात को 1882 वाला कमिशन भी देख चुका था। 1882 में ही और उससे पूर्व 1839 में ही अंग्रेजी के व्यापारी मूल्य को देखा जा चुका था। अंग्रेजी पढ़ाना भी बहुत जल्दी आरंभ कर दिया जाता

है, यह बात भी देख ली गई और यह भी मान लिया गया कि यह प्रक्रिया बदली जानी चाहिए। यह भी देखा जा चुका था कि मद्रास को छोड़कर कहीं भी यूनिवर्सिटी स्तर पर भारतीय भाषा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा था। यह सब कुछ जानते हुए भी आयोग ने यह कह दिया कि स्कूल से ऊपर अर्थात् कालेज और यूनिवर्सिटी में क्लासिकल भाषा के साथ-साथ या समकक्ष आधुनिक भारतीय भाषा को मान्यता न दी जाए।

1902 के आयोग के आधार पर 1904 में सरकार ने शिक्षा-नीति का नया निर्धारण किया और एक प्रस्ताव पास किया। उस प्रस्ताव के अनुसार यह निर्णय लिया गया कि प्राइमरी तक केवल भारतीय भाषा में ही शिक्षा दी जाए और सिवाय मद्रास के जहां कि अंग्रेजी का प्रचार अधिक था अंग्रेजी को प्राइमरी में कोई स्थान न दिया जाए। प्राइमरी से ऊपर हाई स्कूल तक अंग्रेजी को जल्दी ही लागू किया जा रहा था क्योंकि अंग्रेजी का व्यापारी भाव ऊंचा था और वह नौकरी के कारण ही था। इस स्थिति को सुधारने के लिए सरकार ने जो निर्णय लिया वह इस प्रकार था :

1. प्राइमरी स्कूल में बच्चा जब तक अपनी मातृभाषा में सुचारु रूप से योग्यता प्राप्त न कर ले उस समय तक उसे अंग्रेजी पढ़ने की इजाजत न दी जाए।
2. अंग्रेजी भाषा की जब तक अच्छी योग्यता प्राप्त न हो जाए बच्चे उसका प्रयोग माध्यम रूप में न करें। अंग्रेजी को भाषा के तौर पर 13 वर्ष की आयु तक पढ़ा जाए, तत्पश्चात् उसका प्रयोग माध्यम रूप में किया जाए। तब भी मातृभाषा के अध्ययन को न छोड़ा जाए।[1]

शिक्षा-प्रस्ताव (1904) में यह कहा गया था कि अंग्रेजी का प्रयोग शिक्षा-माध्यम के रूप में समय से पहले प्रारंभ नहीं किया जाना चाहिए। स्कूलों के बच्चों में बिना समझे पाठ्य-पुस्तकों का घोटा लगाने की जो बीमारी है उसका मुख्य कारण यही है कि बच्चे अंग्रेजी पढ़ना प्रारंभ करने के पश्चात् जल्दी ही अंग्रेजी माध्यम से पढ़ना प्रारंभ कर देते हैं और भाषा की समझ उन्हें होती नहीं। परीक्षा पास करने के लिए रट्टा लगाना उनके लिए आवश्यक हो जाता है। 1902 से 1907 तक की स्कूल-शिक्षा रिपोर्ट के अनुसार यह पता चलता है कि 1902 के कमिशन के सुझाव और 1904 का प्रस्ताव दोनों कार्यान्वित कर दिए गए थे। बच्चा मातृभाषा अध्ययन, अंग्रेजी भाषा अध्ययन और अंग्रेजी को माध्यम रूप में प्रयोग करने के लिए कितना समय लगाए वह इस प्रकार था :

1. मातृभाषा का अध्ययन : 3 वर्ष से 4 वर्ष तक
2. अंग्रेजी भाषा का अध्ययन : 3 से 4 वर्ष तक
3. अंग्रेजी भाषा का माध्यम रूप में प्रायोग : 13 वर्ष की आयु में (6 से 8 वर्ष पश्चात्)

यहां पर यह समझना आवश्यक है कि लार्ड कर्ज़न की निराशा और क्षोभ के पश्चात् भी

1. देखिए : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II, पृ० 238-39

स्थिति पर वास्तव में प्रभाव पड़ा या नहीं । इसके लिए हमें लार्ड कर्ज़न से पूर्व की स्थिति पर विचार करके दोनों स्थितियों की तुलना करनी चाहिए । 1882 के शिक्षा आयोग ने जो स्थिति देखी थी वह इस प्रकार थी :

1. मातृभाषा का अध्ययन	2 से 4 वर्ष तक
2. अंग्रेजी का अध्ययन	अगले 2 से 3 वर्ष
3. अंग्रेजी भाषा का माध्यम रूप में प्रयोग	तत्पश्चात् अर्थात् 4 से 7 वर्ष पश्चात्

1882 की भी स्थिति यह थी कि अंग्रेजी का माध्यम रूप में प्रयोग कम से कम पांचवीं कक्षा से और अधिक से अधिक आठवीं कक्षा से होता था । 1902–7 की स्थिति यह थी कि अंग्रेजी का प्रयोग माध्यम रूप में जल्दी से जल्दी सातवीं कक्षा से और अधिक से अधिक नवीं कक्षा से होता था । अर्थात् माध्यम रूप में अंग्रेजी की तैयारी करने के लिए दो या एक वर्ष का समय अधिक मिला । मातृभाषा को भी मात्र अकेली या दूसरी भाषा के रूप में पढ़ने के लिए एक वर्ष का समय अधिक मिला ।

अब देखना यह है कि 1854 से 1904 तक पचास वर्ष का शिक्षा प्रयोग वास्तव में कोई दिशा-निदेश कर पाया या नहीं । प्रारंभ से ही एक निष्कर्ष निकाला जाता रहा था और वह यह था :

1. भारती माध्यम से पढ़ने वाले विद्यार्थी सामान्य तौर पर अंग्रेजी माध्यम से पढ़ने वालों की अपेक्षा अच्छे थे और पाठ्य विषयों को भली प्रकार समझते थे ।
2. बच्चे अंग्रेजी माध्यम से पढ़कर कमजोर इसलिए रहते थे कि भाषा को समझने की आवश्यक योग्यता होने से पहले ही वे विभिन्न विषयों को अंग्रेजी में पढ़ने लगते थे और उन्हें समझने की क्षमता उनमें नहीं होती थी । जब वे भाषा को ही नहीं समझते थे तो विषयों को कैसे समझते ?
3. जब बच्चे अपनी मातृभाषा को ही भली प्रकार नहीं जान पाते थे तो उससे आगे अंग्रेजी को कैसे समझते ?
4. प्रथम अपनी मातृभाषा का अध्ययन भली प्रकार किया जाए अन्यथा अंग्रेजी भी नहीं पढ़ी जा सकेगी ।
5. वास्तविक शिक्षा और भाषा-ज्ञान में अंतर है । मात्र भाषा-ज्ञान, वह भी केवल रटंत के आधार पर, गिरी के बिना छिलके के बराबर है ।
6. निष्कर्ष साफ है : यदि शिक्षा हमारा ध्येय है तो वह भारती माध्यम से ही संपन्न हो सकता है । नौकरी के लिए केवल छिलके से पेट भरना है तो दूसरी बात है । लार्ड कर्ज़न इसी बात से तो निराश और क्षुब्ध हुए थे ।

इस निष्कर्ष के निकलने पर भी और वाइसराय महोदय के क्षोभ के बावजूद भी किया गया क्या ? केवल एक वर्ष भारती के अध्ययन के लिए अधिक दिया गया और वैसे ही केवल

एक वर्ष अंग्रेजी भाषा के अध्ययन के लिए दिया गया । पहले जब बच्चों को न भारतीय भाषा आ रही थी न अंग्रेजी, तो एक वर्ष में कोई भी क्या कर लेता ?

शिक्षा और भाषा के संबंध में एक बात करना आवश्यक है जिसकी चर्चा रवीन्द्र ठाकुर ने भी अपने 'शिक्षा का हेरफेर' नामक निबंध में की है । वे कहते हैं कि शिक्षा तो केवल अपनी भाषा में ही होती है । विद्यार्थी जिस समय अपनी भाषा पढ़ रहा होता है उस समय तो वह इतना छोटा होता है कि विचारों के ग्रहण के लिए उसका मस्तिष्क परिपक्व नहीं होता और जब मस्तिष्क परिपक्व होने लगता है तो विचार नहीं मिल पाते क्योंकि अंग्रेजी माध्यम से वह विचारों को ग्रहण कर ही नहीं पाता । कालेज में भारतीय भाषाओं के अध्ययन का कोई नियम था ही नहीं । 1902 के विश्वविद्यालय आयोग ने तो यह सिफारिश की थी कि भारतीय भाषाओं को क्लासिकल भाषा के समकक्ष दूसरी भाषा के रूप में मान्यता न दी जाए । इन सब बातों को देखकर तो यह लगता है कि चाहे 1902 का आयोग हो, अथवा 1904 का सरकारी प्रस्ताव हो, केवल बूर के पूए पकाए जा रहे थे । यदि सुझाव और प्रस्ताव शिक्षा के संबंध में थे तो शिक्षा भी बूर के पूओं से अधिक नहीं थी और यदि शिक्षा का रोग-निदान करने के पश्चात् चिकित्सा की चिंता की जा रही थी तो केवल बातों के पकौड़े तले जा रहे थे । शिक्षा, रोग-निदान और चिकित्सा तीनों ही खोखले थे ।

इन सुझावों और प्रस्तावों से यदि कुछ राहत मिली तो उन बच्चों को मिली जिनके सिर पर 8 से 9 वर्ष की आयु में ही अंग्रेजी माध्यम लाद दिया जाता था । अब वे विद्यार्थी बारह या तेरह वर्ष की आयु तक भारतीय भाषा को पढ़ते रह सकते थे और भारती माध्यम से ही अन्य विषय भी पढ़ सकते थे । ऐसे स्कूल थे जिनमें प्राथमिक या मिडल तक शिक्षा भारती माध्यम से दी जा रही थी । विद्यार्थी इन स्कूलों में सातवीं या आठवीं कक्षा तक अपनी शिक्षा जारी रख सकता था और यह आवश्यक नहीं था कि वह पांचवीं कक्षा में अंग्रेजी स्कूल में जाने के लिए विवश हो । 1913 के शिक्षा प्रस्ताव में यह माना गया कि जो बच्चे सात या आठ क्लास तक भारतीय स्कूल में शिक्षा प्राप्त करके आते थे वे अंग्रेजी माध्यम वाले बच्चों से पढ़ाई में आगे रहते थे । इन विद्यार्थियों के लिए अंग्रेजी स्कूलों में अंग्रेजी अध्ययन के लिए विशेष कक्षाएं खोली गईं ताकि वे अंग्रेजी की कमी को पूरा कर लें । लार्ड कर्ज़न के आदेश से ही भारती माध्यम मिडल स्कूल खोले गए थे । 1921 तक भारती माध्यम मिडल तक बहुत स्कूलों में लागू हो गया, किंतु अंग्रेजी का स्थान प्रमुख ही रहा ।

1915 में यह साफ तौर पर प्रमाणित हो गया कि सरकार वास्तव में कुछ करना नहीं चाहती । नौकरी और राजसेवा एवं राजभक्ति तो पहले से ही शिक्षा के उद्देश्य चले आ रहे थे । इन दोनों के लिए अंग्रेजी भाषा पर अधिकतम बल दिया जा रहा था । शिक्षार्थ केवल इतना परिवर्तन हो रहा था कि अंग्रेजी माध्यम बच्चे की बारह या तेरह वर्ष की आयु से पहले अर्थात् आठवीं या नवीं कक्षा से पहले प्रारंभ न किया जाए । बारह-तेरह वर्ष की आयु तक तो विशेष कोई शिक्षा होती नहीं । इसलिए शिक्षा के पक्ष में यह विचार सामने आया कि सारे सेकंडरी कोर्स

अर्थात् दसवीं कक्षा तक भारती माध्यम से पढ़ाया जाए और अंग्रेजी को दूसरी भाषा के रूप में अनिवार्य विषय रखा जाए । 17 मार्च 1915 को इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौसिल में यह प्रस्ताव रखा गया कि [2]

> यह कौसिल गवर्नर-जनरल से अनुरोध करती है कि प्रांतीय सरकारों और प्रशासनों से परामर्श करके ऐसे कदम उठाए जाएं कि समस्त सेकंडरी स्कूलों में भारतीय विद्यार्थियों के लिए भारतीय भाषाओं को शिक्षा-माध्यम बनाया जाए और अंग्रेजी को दूसरी भाषा के रूप में अनिवार्य विषय रखा जाए ।

सर एस० रायनिंगर ने यह प्रस्ताव रखा था ।

उस समय सर हारकोर्ट बटलर गवर्नर-जनरल की कौसिल में शिक्षा सदस्य थे । उन्होंने विषय और उसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला । उन्होंने कहा कि सरकार की यह नीति रही है कि सेकंडरी स्तर पर बच्चे की तेरह वर्ष की आयु तक भारतीय भाषा को शिक्षा-माध्यम रखा जाए और अंग्रेजी दूसरी भाषा के रूप में अनिवार्य विषय रहे । अब प्रश्न यह है कि उच्चतम तीन या चार कक्षाओं में अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम रखा जाए या नहीं । विकल्प यह नहीं है कि अंग्रेजी को कम किया जाए अपितु यह है कि अंग्रेजी को डायरेक्ट तरीके से दूसरी भाषा के रूप में पढ़ाया जाए और विद्यार्थियों के मानसिक विकास के लिए शिक्षा उन्हें मातृभाषा के माध्यम से दी जाए । प्रस्ताव पर बहस हुई और बहस के पश्चात् सर हारकोर्ट ने ही विभिन्न विचारों का समापन किया । उन्होंने भारती माध्यम की श्रेष्ठता पर इस प्रकार प्रकाश डाला : "मेरा अनुभव यह है और मैंने बहुत सारे शिक्षाशास्त्रियों से इस विषय पर विचार-विमर्श किया है । हमारा अनुभव यह है कि जिस विद्यार्थी की शिक्षा स्कूल में उच्चतम कक्षा तक भारतीय भाषा के माध्यम से हुई है उसका मानसिक विकास कहीं अधिक पाया गया है अपेक्षाकृत उस विद्यार्थी के जिसकी शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से हुई है ।" सर हारकोर्ट ने सदस्यों को यह भी याद दिलाया कि 1882 का आयोग भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचा था ।

इतना कह देने के पश्चात् कोई संदेह की बात रह नहीं गई थी । किंतु फिर भी विषय विवादास्पद ही बना रहा और कोई परिवर्तन संभव नहीं हो पाया । सर हारकोर्ट अपने ही अनुभव पर संदेह करने लगे और अधिक तथ्यों की प्रतीक्षा करने की मांग करने लगे । उन्होंने कहा : "मैं यह समझता हूं कि इस विषय में मेरा अनुभव ही अंतिम और निर्णयात्मक नहीं है । यह ऐसा विषय है कि किसी भी निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले बहुत बड़े स्तर पर अधिक अनुभव की आवश्यकता है । मेरी अपनी राय तो यह है कि हमें अभी और प्रयोग करना चाहिए और प्रयोग के लिए यह आवश्यक है कि दूसरी अनिवार्य भाषा के रूप में अंग्रेजी को यदि पढ़ाना है तो उसके लिए श्रेष्ठतम प्रबंध होना चाहिए और श्रेष्ठतम अध्यापकों का होना अपेक्षित है । ऐसे अध्यापक भारत में थोड़े हैं ।

1835 से 1915 तक 80 वर्ष का प्रयोग और 1882 से 1915 तक 33 वर्ष के निष्कर्ष

2. देखिए : 'प्रोसिडिंग्ज़ आफ दि कौसिल आफ दि गवर्नर-जनरल आफ इंडिया', नं० 53, पृ० 418–47

सब विफल हो गए । कोई आगे चलता भी तो कैसे ?

कुछ सदस्यों ने आगे चलने का प्रयास किया भी । पं० मदन मोहन जी मालवीय ने यह सुझाव दिया कि एक केंद्रीय समिति बना दी जाए जो इस प्रश्न पर गंभीरता और व्यापकता से विचार करे और उचित सुझाव दे । उनका सुझाव नहीं माना गया । उत्तर में सर हारकोर्ट ने कहा कि यह एक महत्त्वपूर्ण अखिल भारतीय प्रश्न है और अलग-अलग सूबों में अलग-अलग विचारधाराएं काम कर रही हैं और एक ही सूबे में भी अलग-अलग स्थानों पर स्थानीय मान्यताएं भी हो सकती हैं । इस कारण केंद्रीय समिति सफल नहीं होगी । केंद्रीय समिति बनाना उचित नहीं रहेगा । इस पर भी एक और सुझाव दिया गया कि स्थानीय सरकारों के सम्मुख इस समस्या को रखा जाए । उनका ध्यान इस बहस की ओर दिलाया जाए और उनसे पूछा जाए कि क्या इस प्रश्न पर विचार करने के लिए सूबाई समितियां बनाना उचित नहीं रहेगा ? यह सुझाव भी नहीं माना गया, इसे स्थगित कर दिया गया । कारण यह बताया गया कि लड़ाई चल रही है । ऐसे प्रश्नों के लिए अभी उचित समय नहीं आया है ।

अंत में वास्तविक कारण सामने आ ही गया । बात प्रारंभ हुई थी शिक्षा मनोविज्ञान से : मातृभाषा के माध्यम से प्रशिक्षण किया जाए तो बच्चे का मानसिक विकास अच्छा होता है । बात शिक्षा-नीति की भी हुई थी । शिक्षा-नीति का निर्धारण मनोविज्ञान के तथ्यों के आधार पर ही होना चाहिए । किंतु बात चली केवल व्यवहार और व्यापार की । सर हारकोर्ट ने ही स्वयं कहा : "प्रश्न शिक्षा-नीति का नहीं है । प्रश्न सीधा शिक्षा-व्यवस्था का है और बड़े पैमाने पर ही विचार करके इसे सुलझाया जा सकता है । शिक्षा का प्रश्न व्यवहार और व्यापार का बन गया है । वास्तविक प्रश्न है मांग और सप्लाई का । शिक्षा कैसी हो इस प्रश्न का उत्तर इस बात से मिलेगा कि मांग कौन-सी शिक्षा की है । दुनिया में सारी शिक्षा पद्धतियां केवल एक ही बात से जूझ रही हैं : बी जो पढ़ाना चाहता है वह ए नहीं पढ़ना चाहता । इस तथ्य से जो भी मुंह मोड़ेगा वह परेशान होगा ।"

घूम-फिरकर बात 1817, 1827, 1835 और 1841 पर वापस पहुंच गई । सबसे पहले चाहिए नौकरी, नौकरी के लिए अंग्रेजी और अंग्रेजी के लिए चाहिए शिक्षा । शिक्षा व्यापार में छिलका-फरोशी के सिवाय कुछ था नहीं । लार्ड कर्ज़न ने प्रश्न उठाए । सवाल भी छिलका-फरोशी, जवाब भी छिलका-फरोशी । सर हारकोर्ट केवल शिक्षा व्यापार की बात करते रहे और भारतीय भाषा माध्यम विषयक प्रस्ताव वापस ले लिया गया । प्रस्ताव की वापसी के कारण इस प्रकार थे :

1. व्यापार सिद्धांत : जैसी मांग वैसा माल । अंग्रेजी की मांग थी, अंग्रेजी की ही सप्लाई करनी पड़ेगी । अंग्रेजी को यदि माध्यम न रखा गया तो अंग्रेजी की योग्यता कम हो जाएगी । (जो मशीन चले सो ही चमके, रुके तो जंग खा जाए) ।
2. यदि भारती माध्यम से शिक्षा सप्लाई करें भी तो कौन-सी भारतीय भाषा में ? एक ही सूबे में कई भाषाएं हैं । ऐसा करना महंगा भी तो पड़ेगा । (स्वतंत्र भारत

के प्रश्न भी उठ खड़े हुए ।)

3. भारती माध्यम के लिए पाठ्य पुस्तकें भी नहीं है । (1793 से ही नहीं थीं) ।
4. साइंस, गणित इत्यादि में भारतीय भाषाओं में टेक्निकल शब्दावली नहीं है ।
5. इन विषयों को भारती माध्यम से पढ़ाने वाले अध्यापक नहीं हैं ।
6. अंग्रेजी अखिल भारतीय भाषा बन चुकी है । अंग्रेजी में यदि शिक्षा न दी गई तो भारत की एकता को हानि पहुंचेगी ।

जब कोई व्यवस्था स्थितप्रतिष्ठ अवस्था में पहुंच जाती है तो उससे संबद्ध प्रश्नों का रूप भी बदल जाता है । प्रश्नों का रूप बदलते ही मौलिक समस्याओं का रूप भी बदल जाता है । प्रारंभ में समस्या का रूप यह था :

1. अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीय बच्चों की शिक्षा नहीं हो पाएगी । अंग्रेजी भारत में जड़ें भी नहीं पकड़ेगी ।
2. शिक्षा भारतीय भाषा के माध्यम से ही हो सकेगी । तदर्थ क्या करें ?

जब-जब यह समस्या सामने आई और इस पर विचार किया गया तब-तब हुआ तो कुछ नहीं किंतु समस्या का रूप नहीं बदला था और जो भी हल निकाला गया उससे ऐसा लगा कि वह एक मजबूरी के रूप में अपनाया गया था । अब स्थिति बदली हुई दीखी । परिवर्तन यह हो गया :

1. अंग्रेजी जड़ें पकड़ चुकी है । भारत की एकता का माध्यम है, उसका प्रतीक भी यही है ।
2. अंग्रेजी माध्यम को बदला जाए तो क्यों और कैसे ?
3. अंग्रेजी माध्यम को रखना अथवा बदलना : इनमें से बड़ी समस्या कौन-सी है ?

1917 में दिल्ली में सरकार की ओर से शिक्षा-निदेशकों का एक सम्मेलन बुलाया गया । उसी वर्ष स्थानीय सरकारों के प्रतिनिधियों का भी एक सम्मेलन शिमला में बुलाया गया । इन सम्मेलनों में समस्या और प्रश्नों का रूप बदल गया । सम्मेलनों में लार्ड चेम्सफोर्ड ने मुख्य समस्याओं की ओर ध्यान दिलाया :

1. शिक्षा-माध्यम के विषय में सरकारी नीति
2. भारती का विकास
3. अंग्रेजी के प्रशिक्षण को बेहतर बनाना
4. शिक्षा-माध्यम के रूप में अंग्रेजी और भारती की अपेक्षित स्थिति के निर्धारण का औचित्य ताकि विद्यार्थी दोनों से अधिकतम लाभ उठा सकें ।

बात अधूरी थी क्योंकि यहां लाभ शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं होता । इसका आशय सर शंकरन नायर ने कहा । सर हारकोर्ट तो दो वर्ष पूर्व शिक्षा व्यवस्था की चर्चा कर चुके थे । सर शंकरन ने सर हारकोर्ट की बातों को दुहराया और कहा कि सम्मेलन का ध्येय यह था कि यह

देखा जाए कि वर्तमान स्थिति में कितना परिवर्तन अपेक्षित है ताकि विद्यार्थी (क) पाठ्य विषयों को अच्छी तरह समझ लें और (ख) शिक्षा-संपन्न होने के समय तक अब की अपेक्षा अंग्रेजी की बेहतर योग्यता प्राप्त कर सकें ।[3] इन सब विचारों का ध्यान से विश्लेषण करें तो ये बातें उबर कर सामने आती हैं :

1. अंग्रेजी तो पढ़ाना ही है । सोचना केवल यह है कि उसे अच्छी तरह कैसे पढ़ाया जाए ।
2. भारती का विकास और शिक्षा-माध्यम के रूप में उसकी स्वीकृति ये दो प्रश्न अलग-अलग हो गए, 1902 से ही हो गए थे ।
3. अंग्रेजी और भारती इन दोनों में से कौन-सा माध्यम अपेक्षाकृत अच्छा है—इसका निर्णय करने का आधार यह नहीं होगा कि बच्चे कौन-सी भाषा को भली भांति समझते हैं बल्कि यह होगा कि कौन-सी भाषा विकसित है और विषय-वस्तु को अभिव्यक्त करने की क्षमता रखती है । हम जानते हैं कि किसी भी विषय को मात्र अभिव्यक्त करना और बात है किंतु श्रोताओं तक पहुंचाना और बात है । स्थिति न केवल तुलनात्मक बन गई बल्कि स्पर्धात्मक भी बन गई जिसमें भारती की सुगमता की अपेक्षा अंग्रेजी का विकास और उसकी राजसत्ता सामने आ खड़ी हुई ।
4. राज की शिक्षा-माध्यम संबंधी नीति तो अंग्रेजी के पक्ष में ही थी । अब देखना यह था कि उसे बदलना और भारती माध्यम को लाना उचित होगा या नहीं । प्रश्न भारती को लाने का नहीं रहा, अंग्रेजी को हटाने का हो गया और अंग्रेजी को हटाने के लिए न केवल विकल्प-भाषा की क्षमता की आवश्यकता थी बल्कि सामाजिक और राजनीतिक समर्थन की भी आवश्यकता थी । भारती के लिए मांग कम थी, अंग्रेजी के लिए अधिक थी । अंग्रेजी भाषा भारत की एकता का प्रतीक बनाई जा रही थी और भारतीय भाषाएं संगठन-भेद का सूचक बन रही थीं ।

इन्हीं समस्याओं और प्रश्नों के बदलते रूप के कारण बहस के दौरान जो प्रश्न उठाए गए और उन प्रश्नों पर जो राय बनाई गई वह देखने योग्य है । 21 प्रतिनिधियों का मत शिक्षा और माध्यम भाषा के विषय में इस प्रकार रहा :

1. हाई स्कूल की सारी कक्षाओं में शिक्षा-माध्यम भारती होना चाहिए ।	3
2. हाई स्कूल की सारी कक्षाओं में अंग्रेजी के अतिरिक्त सभी विषयों में शिक्षा माध्यम भारती होना चाहिए ।	4
3. दो उच्चतम कक्षाओं में मुख्य माध्यम अंग्रेजी हो ।	14
4. तीन उच्चतम कक्षाओं में मुख्य माध्यम अंग्रेजी हो ।	11
5. चार उच्चतम कक्षाओं में मुख्य माध्यम अंग्रेजी हो ।	7

3. सम्मेलनों की कार्यवाही के लिए देखिए : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, 132-35

6. जो बच्चे भारती माध्यम से पढ़कर हाई स्कूल में आते हैं वे अंग्रेजी के अतिरिक्त और विषयों में अच्छे होते हैं अपेक्षाकृत उनके जो अंग्रेजी माध्यम से पढ़कर आते हैं । 11
7. जो बच्चे भारतीय स्कूल से अंग्रेजी स्कूल में आते हैं वे अंग्रेजी में कमजोर रहते हैं । 10
8. ये बच्चे कमजोर नहीं रहते, बाद में ठीक हो जाते हैं । 7
9. अंग्रेजी में कुशलता प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी का अध्ययन जल्दी से जल्दी प्रारंभ कर देना चाहिए । 15
10. तीन वर्ष के अध्ययन के बाद 9-11 वर्ष की आयु में अंग्रेजी का अध्ययन प्रारंभ किया जाए । 11
11. दो वर्ष के अध्ययन के बाद । 2
12. चार वर्ष के अध्ययन के बाद । 7

भारती माध्यम से पढ़ने वाले बच्चे सभी विषयों में अच्छे और अंग्रेजी में भी ठीक स्तर पर पहुंच जाते थे, फिर भी भारती के पक्ष में केवल तीन या चार सदस्य थे । अंग्रेजी माध्यम के पक्ष में 14 और जल्दी से जल्दी अंग्रेजी प्रारंभ करने के पक्ष में 15 । बात वहीं की वहीं रही । समस्या स्वयं हल बन गई ।

लार्ड कर्ज़न के छिलका-फरोशी के विरुद्ध उग्र विचारों के बावजूद पूए बूर के ही पकते रहे । प्रश्न शिक्षा का रहा ही नहीं, मात्र अंग्रेजी का बन गया । प्रश्न सार्थक माध्यम का भी नहीं, अंग्रेजी माध्यम का ही रह गया क्योंकि अपेक्षा यह की जाती थी कि अंग्रेजी माध्यम के कारण बच्चे अंग्रेजी का अधिक प्रयोग करेंगे और जितना अधिक अंग्रेजी का प्रयोग करेंगे उतना ही अधिक अंग्रेजी सीखेंगे । भारती माध्यम को सार्थक मानते हुए भी प्रश्न भारती माध्यम का नहीं रहा । प्रश्न यह बन गया कि अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषा आए तो क्यों ? अंग्रेजी और भारती दो प्रतिपक्षी भाषाएं बन गईं । अंग्रेजी मोर्चे में भी और स्थितप्रतिष्ठ बन चुकी थी । भारती उसे हटाए तो कैसे ? विषय पर विचार करने वाले और निर्णय लेने वाले सभी तो अंग्रेजीविद् थे । सरकार से और सशक्त भाषा से टक्कर कौन लेता ? सबके सब बूर के पूए पकाते रहे और बातों-बातों में बूर के पकौड़े खाते-खिलाते रहे । बच्चों की चिंता किसी ने नहीं की । केवल हाई स्कूल परीक्षा में अंग्रेजी को छोड़कर और विषयों में प्रश्नपत्रों का उत्तर ऐच्छिक रूप से अंग्रेजी या भारतीय भाषा में देने की छूट मिल गई । शिक्षा-माध्यम संबंधी स्थिति पहले जैसी बनी रही ।

21
मित्रभेद

मित्रभेद ब्रिटिश कूटनीति का महामंत्र है, यह सब जानते हैं । बांग्लादेश के बनने पर बी०बी०सी० की एक बात मैं भूल नहीं सकता । प्रोग्राम की समाप्ति पर बी०बी०सी० ने टिप्पणी की : "जब ब्रिटिश भारत छोड़कर आए थे तो एक के दो देश बन गए थे । अब वे तीन हो गए हैं ।" तोड़ो और राज करो, रोमन कूटनीति का मूलमंत्र था और वहीं से ब्रिटेन को उत्तराधिकार में मिला था ।

किंतु मित्रभेद का शिक्षा और भाषा से क्या संबंध ? हम यह देख चुके हैं कि ब्रिटिश राज का प्रारंभ से ही शिक्षा से संबंध रहा था, शिक्षा का भाषा से, भाषा का एक ओर सभ्यता और विचार-परिवर्तन से और दूसरी ओर नौकरी से, नौकरी और अंग्रेजीकरण का सरकारी सत्ता से, और सत्ता का राज और साम्राज्य से संबंध था । अतः सरकार ने शिक्षा को राजसेवा में जोड़ दिया और अंग्रेजी भाषा का ज्ञान शिक्षा का पर्याय बन गया । अब एक प्रश्न और खड़ा हो गया : अंग्रेजी भाषा शिक्षा की सहयोगी है या उसकी विरोधी ? एक पक्ष तो यह मानता था कि अंग्रेजी भाषा विचारों की कुंजी है और मानसिक विकास के द्वार खोल देती है । आज भी बहुत से लोग ऐसा मानते हैं कि भारत के पुनर्जागरण का श्रेय अंग्रेजी भाषा और शिक्षा को ही जाता है । दूसरा पक्ष कहता था कि अंग्रेजी मानसिक विकास का शत्रु है जो समस्त विषयों को हड़प करके अंत में अपने आप को भी हड़प कर लेता है अर्थात् बच्चे शून्य से प्रारंभ करते हैं और शून्य पर ही पहुंचकर समाप्त कर देते हैं । स्वयं लार्ड कर्ज़न अंग्रेजी-माध्यम शिक्षा को छिलका-फरोशी कहते थे । इसी विवाद के कारण शिक्षा आयोग बिठाए गए थे, पहला 1882 में और फिर 1902 में । बार-बार शिक्षाशास्त्रियों और शिक्षा-निदेशकों के सम्मेलन बुलाए गए । ये आयोग और सम्मेलन भी मात्र आयोग-वियोग की कहानी बनकर रह गए । धीरे-धीरे समस्या का रूप ही बदल गया । पहले तो मुख्य विषय था शिक्षा और भारतीय भाषाओं का विकास : अंग्रेजी-माध्यम से शिक्षा हो रही थी, या नहीं ? यदि नहीं तो क्या किया जाए ? यद्यपि इसका उत्तर तो कभी भी नहीं मिला और मिला तो मिला—केवल अंग्रेजी । भारतीय भाषाओं को भुला ही दिया गया । तथापि समस्या ज्यों की त्यों बनी रही । आगे चलकर समस्या का रूप भी यह बन गया कि यदि अंग्रेजी-माध्यम से शिक्षा नहीं हो रही तो क्यों नहीं हो रही और कैसे हो ? अर्थात् अंग्रेजी में सफलता कैसे मिले ? किंतु भारतीय भाषा का प्रश्न भी साथ में खड़ा था । उसका रूप भी बदल गया । अंग्रेजी जाए तो क्यों ? भारती आए तो क्यों और कैसे ? अंग्रेजी के जाने से कोई हानि तो नहीं होगी ? भारतीय भाषा के आने से क्या लाभ होगा ? कोई हानि तो नहीं होगी ? यदि हानि होगी तो क्या ? कुल मिलाकर देश का लाभ किसमें

है, अंग्रेजी में या भारतीय भाषा में ?

इन प्रश्नों का उत्तर कौन दे ? ग्रांट के समय से 1917 तक इस प्रश्न का उत्तर अंग्रेजी सत्ताधारियों ने ही दिया या सहयोगी भारतीयों ने उनके साथ मिलकर दिया । इस प्रश्न को खुला प्रश्न बनने ही नहीं दिया गया । ग्रांट महोदय ने तो भारतीयों के संबंध में कहा था कि हमने उन्हें जीता है, वे हमारे अधीन हैं, अतः उनके भले-बुरे का निर्णय हम करेंगे । मकाले महोदय ने 1835 में कहा था कि हम शिक्षा समिति हैं, हमें पता है कि कौन-सी भाषा पढ़ने योग्य है—अंग्रेजी या संस्कृत ? भारती का तो नाम ही नहीं था । 1854 में भी साम्राज्य सत्ता ने स्वयं फैसला कर लिया था जिसे सर चार्ल्स वुड ने शिक्षा भारती प्रस्ताव में भेज दिया था । 1882 में और 1902 में भी स्वयं राजसत्त ने ही फैसला कर दिया था । 1917 में जब कलकत्ता यूनिवर्सिटी आयोग बिठाया गया तो उन्होंने शिक्षा-माध्यम के प्रश्न को अंग्रेजी भाषा के राजनीतिक महत्त्व से जोड़ दिया और जनता के सामने रख दिया । 1817 में राजा राममोहन राय ने लार्ड एमहर्स्ट को अंग्रेजी के पक्ष में पत्र लिखा था, पूरी एक शती के पश्चात् शिक्षा और भाषा संबंधी प्रश्न को जनता के सामने रखा गया । देखना यह है कि इस एक शती में कोई ऐसी बात तो नहीं हुई कि अंग्रेजी के पक्ष में जनमत ही तैयार किया जा रहा हो ? यदि अंग्रेजी पक्ष में जनमत तैयार हो गया तो राजसत्ता के पक्ष में तो अपने आप हो गया ।

भाषा की शक्ति अर्थात् शब्दशक्ति अनंत है क्योंकि वह जीवन सत्ता (एग्ज़िस्टेंस) और सत्ता चेतना का शब्द रूपांतर है । सत्ता अनंत है, भाषा की संभावना भी अनंत है । हमारी चेतना सांत है इस कारण से हमारी भाषा भी सीमित है । जैसे-जैसे हमारी चेतना का विकास होता है वैसे-वैसे हमारी भाषा का भी विकास होता है । साथ-साथ भाषा हमारी चेतना के विस्तार का साधन भी है । भाषा ही स्वाध्याय और प्रवचन का साधन है और इन्हीं से चेतना की वृद्धि होती है । भाषा के माध्यम से दर्शन की उपलब्धि होती है और दर्शन से भाषा का विकास होता है । अंततोगत्वा भाषा को शब्दब्रह्म कहा गया है । जैसे ब्रह्म की कोई परिभाषा नहीं है वैसे ही अंततोगत्वा भाषा का ब्रह्म के साथ तादात्म्य भी अनुमेय है । जैसे सत्ता अपरा, परा और परा से भी परे अर्थात् परम है वैसे ही भाषा भी अपरा, परा और परा से भी परे अर्थात् परम है । जब परम की कृपा होती है तो चेतना का विस्फोट होता है और जब चेतना का विस्फोट होता है तो भाषा का विस्फोट होता है । किंतु परम की प्राप्ति होने पर जिस चेतना की प्राप्ति होती है वह अनिर्वचनीय है । परम चाहे सत्ता हो अथवा भाषा, अनिर्वचनीय है । भाषा और चेतना स्वयं अपनी व्यक्त शक्ति को लांघकर अनंत को छू लेती है और उसी में समा कर अनंत हो जाती है । परम वाक्शक्ति की एक दिशा है ।

भाषा की शक्ति की दूसरी दिशा सामाजिक है जो अपरा चेतना का शब्दांतर है । भाषा केवल वैयक्तिक चेतना की अभिव्यक्ति एवं माध्यम नहीं है, वह सामाजिक चेतना का माध्यम एवं अभिव्यक्ति भी है । भाषा समाज के संघटन का सूचक है, उसका सूत्र है, उसका आधार है और उसकी सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति, उसकी उत्प्रेरणा और संचेतना का माध्यम भी है ।

संघटन-सूत्र होने के नाते भाषा समाज की सभ्यता, संस्कृति और एकता का प्रतीक है । समाज की परंपरा, धर्म, संस्कार और उसका आत्मा और स्वरूप सभी भाषा में लक्षित और बिंबित होते हैं । जब समाज की भाषा का परिवर्तन करने का प्रयास किया जाता है तो पारंपरिक भाषा और संस्कृति विद्रोह कर सकती हैं क्योंकि यह भाषा समाज की आत्मा पर चोट भी कर सकती है ।

1857 के आंदोलन का एक कारण अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीयों के धर्म-परिवर्तन का भय और संदेह भी था । कैनेडा में क्यूबेक और उसके निकटवर्ती प्रदेश जो फ्रेंच-भाषी हैं वे अंग्रेजी भाषा को अपनी फ्रेंच परंपरा और संस्कृति पर अतिक्रमण समझते हैं । यद्यपि आधुनिक रूप से कैनेडा द्विभाषी देश है तथापि फ्रेंच कैनेडा अंग्रेजी का विरोध करता है और विधान और उच्चतम न्यायालय के निर्णयों के दोनों में लिखे होने के बावजूद प्रदेश स्तर पर अंग्रेजी का विरोध करता है । इस विरोध में अंतर्निहित इंग्लैंड और फ्रांस की न केवल मध्यकालीन राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रतिस्पधां है अपितु आज के आर्थिक हितों का टकराव भी है ।

भाषा के साथ न केवल धार्मिक, सांस्कृतिक और पारंपरिक भावनाएं ही जुड़ी होती हैं अपितु आर्थिक और व्यावसायिक हित भी जुड़े होते हैं । उदाहरणार्थ, यदि कोई दूसरी भाषा एक भाषा-भाषियों की धार्मिक और पारंपरिक भावनाओं को चुनौती न दे तो चल जाती है और चलती रहती है । मध्यकालीन ब्रिटेन में घर की भाषा अंग्रेजी थी, स्कूल की भाषा लैटिन थी और प्रशासन की भाषा फ्रेंच थी । यह व्यवस्था करीब दो सौ वर्ष तक चलती रही । इसी प्रकार मुगल कालीन भारत में घर की भाषा भारती थी, स्कूल की भाषा संस्कृत, अरबी अथवा हिंदवी थीं और प्रशासन की भाषा फारसी थी । कितने ही भारती-भाषियों ने फारसी सीखी और राजसेवा में कार्य किया । विभिन्न भाषाओं के इसी क्षितिज पर हिंदी और उर्दू का जन्म हुआ था । इसी नई भाषा को हिंदवी कहा गया था । प्रारंभ में उर्दू और हिंदी में कोई भेद था ही नहीं, केवल लिपि का भेद था । यदि दूसरी अथवा विदेशी भाषा पूर्व भाषा-भाषियों की आर्थिक सहायता करे और सुगम भी हो तो व्यावसायिक स्तर पर मान्य हो जाती है । अंग्रेजी चाहे सुगम न हो फिर भी इसी व्यावसायिक स्तर पर मान्य हो गई थी । किंतु वही भाषा जब आर्थिक हितों को अथवा पूर्व भाषा-भाषियों के स्वाभिमान को चुनौती देती दीखती है तो उसे भी चुनौती मिलती है । मध्यकालीन ब्रिटेन में 1250 के पश्चात् फ्रेंच भाषा को चुनौती दी गई और एक शती के पश्चात् 1363 में फ्रेंच के स्थान पर अंग्रेजी भाषा को राजभाषा बनाना पड़ा । इसी प्रकार कुछ वर्ष पूर्व जब पाकिस्तान के बंगला-भाषी प्रदेश ने केंद्रीय सरकार के विरुद्ध आवाज उठाई तो और कारण जो भी रहे हों, एक कारण था केंद्रस्थ उर्दू-भाषियों की आर्थिक, व्यावसायिक और राजनीतिक एवं प्रशासनिक सत्ता और उसी सत्ता का बंगला-भाषियों के स्वाभिमान द्वारा विरोध ।

ब्रिटिश सरकार प्रारंभ से ही शासन-सत्ता और जन-सत्ता के परस्पर टकराव की संभावना को समझती थी । प्रारंभ से ही इस विरोध और टकराव के निराकरण के साधन भीं सोचे गए थे । इन साधनों में मुख्य था मित्रभेद । मित्रभेद के साथ ही एक दूसरा साधन भी जोड़ दिया गया था, वह था शब्दभेद अर्थात् भाषाभेद और भाषा से संबद्ध हितों का उद्बोधन और परस्पर उनका

टकराव । अंग्रेजी शिक्षा-नीति और भाषा-नीति को सही तरह से समझने के लिए ब्रिटिश कूटनीति के मित्रभेद सिद्धांत को समझना आवश्यक है । मित्रभेद और शब्दभेद ब्रिटिश कूटनीति के दो पहलू थे और परस्पर सहायक थे ।

ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ और शासक भारत की प्रसुप्त शक्ति और सत्ता को भांप गए थे । 1789 में लार्ड कार्नवालिस ने कोर्ट आव् डायरेक्टर्ज़ को लिखा था कि एक बहुत भारी और अनुशासित सेना के बिना भारत में हमारी सत्ता केवल रेत पर बनी दीवार जैसी है ।[1] मनरो, मैटकाफ़, मैल्कम, एल्फिंस्टन इत्यादि गंभीर प्रशासक गरम नीति के विरुद्ध थे और भारतीय परंपरा और भावनाओं से कोई टकराव नहीं लेना चाहते थे । इसी कारण वे शिक्षा-क्षेत्र में भी अत्यंत सावधानी से आगे कदम रखना चाहते थे । वे इस तथ्य को भली भांति समझते थे कि भारत की वास्तविक शक्ति उसकी एकता में है । इसलिए वे यह चाहते थे कि कोई ऐसा कदम उठाया जाए जो समस्त भारतीयों की एकता के लिए चुनौती बन जाए । उन्होंने मित्रभेद के मूलमंत्र का सहारा लिया और भारतीय जनता की एकता में कहीं न कहीं विभिन्नता के कीटाणुओं को खोजने की कोशिश की । एक स्थान उन्हें मिल गया जहां विषैली मक्खी बिठाई जा सकती थी और वह स्थान था जातिवाद और सांप्रदायिकता ।

जातिभेद और सांप्रदायिकता की बीमारी का निदान 1813 में कर लिया गया था और उसे बढ़ाने की नीति पर भी विचार किया गया था । जब कंपनी का चार्टर नया किया गया तो सर जान मैल्कम ने संसदीय समिति के सामने अपने बयान में कहा कि हमारे विस्तृत राज की सुरक्षा भारतीय जनता के जातिभेद पर निर्भर करती है । जब तक वहां की मुख्य जातियां विभाजित रहेंगी हमारी राज-सत्ता और व्यवस्थिति के विरुद्ध किसी विद्रोह की संभावना नहीं है ।[2] सर जान ने यही बात 1831 में फिर से कही : ज्यों-ज्यों भारतीय जनता एकता की ओर बढ़ेगी वह हमारी सत्ता को उखाड़ फेंकने की क्षमता को प्राप्त करती चली जाएगी और हमें अपने राज को बनाए रखना कठिन होता चला जाएगा ।[3] लार्ड मनरो ने भेदनीति को आगे ले जाने के लिए शिक्षा को अपनाया । उन्होंने दो प्रकार के स्कूल खोले : एक प्रकार के स्कूल हिंदुओं के लिए और दूसरे प्रकार के मुसलमानों के लिए । मद्रास के नौ जिलों में ऐसा कर दिया गया । किंतु मनरो के पश्चात् ऐसा नहीं किया जा सका । यदि हम 1813 और 1831 की सर जान मैल्कम की बातों को याद रखें तो हमें लार्ड हेस्टिंग्ज़ की शिक्षा-नीति पर भी पुनर्विचार करना पड़ेगा । कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज दोनों ही हिंदू और मुसलमानों को अलग-अलग संतुष्ट करने की नीति के फलस्वरूप संस्कृत और अरबी के टकराव के माध्यम से उन्हीं को आपस में भिड़ा देने के प्रयास को सफलीभूत करने के साधन समझे जा सकते हैं ।

इस सारे प्रयास के होते हुए भी 1857 के आंदोलन ने दस्तक दे ही दी । आंदोलन का भान तो पहले ही हो गया था । न्याय और शासन व्यवस्था के क्षेत्र में ब्रिटिश राज की जो भी देन

1. उद्धृत : एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया' (1772–1947), पृ० 49
2, 3. उद्धृत : सुंदरलाल, 'भारत में अंग्रेजी राज', III, पृ० 1132

रही हो, जनता बीते समय को भूल नहीं पा रही थी । सर जान स्ट्रैची के शब्दों में अंग्रेजी सरकार से लाभान्वित हो कर भी लोग उससे प्यार करने में असमर्थ थे ।[4] उनकी भावनाएं कहीं और थीं । अंग्रेजों से कुछ भी तो नहीं मिलता था—न रंग, न धर्म, न रीति-रिवाज, न भावनाएं । सत्ताधारी, दंभी, अभिमानी और जातीय आधार पर उच्चाधीश बने हुए । कई लोग थे जैसे हेनरी लारेंस, जान निकलसन और मेडोज टेलर जिनकी भावना और व्यवहार-कौशल के प्रति लोग निष्ठावान थे किंतु मात्र वैयक्तिक सौजन्य और व्यवहार-कुशलता से राजनिष्ठा और श्रद्धा तो उत्पन्न नहीं होती ।[5]

1857 आ तो गया पर सरकार इस आंदोलन की कमर तोड़ने में सफल रही । अब तो सरकार ने खुले तौर पर मित्रभेद नीति का सहारा लिया । आंदोलन के विफल होने पर सर चार्ल्स वुड ने लार्ड एल्गिन को लिखा कि हमने एक वर्ग को दूसरे से भिड़ाकर अपनी सत्ता को सुरक्षित रखा है और हमें ऐसे ही करते रहना है । आप अपनी पूरी शक्ति लगा दीजिए कि इन लोगों को एकजुट नहीं होने देना । सैनिक प्रशासन में भी ऐसा ही किया गया । सर चार्ल्स ने ही लार्ड एल्गिन को लिखा कि आप पंजाब के फौजियों से पूर्वियों को मार लगवाइए और पूर्व के फौजियों से पंजाबियों को गिरवाइए । यथावश्यकता ऐसा ही कीजिए । सर चार्ल्स वुड ऐसा मानते थे कि यदि हमारे विरुद्ध भारत एक हो गया तो हम बहुत दिन नहीं टिक पाएंगे ।[6]

1857 के पश्चात् आजादी की नई शक्तियां उभरने लगी थीं । ये शक्तियां भारत के नवनिर्माण में लगी थीं । इन्होंने भारत के साहित्य, दर्शन, धर्म और परंपरा का पुनरवलोकन करके पुनर्मूल्यांकन किया और नए मूल्यों और आकांक्षाओं का आह्वान किया । धर्म को कार्मिक जीवन का स्रोत मान कर इन्होंने धर्म और कर्म दोनों का बीड़ा उठाया और स्वतंत्रता की दिशा में आगे बढ़ने के लिए कृतसंकल्प हो गए । ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, देवबंद स्कूल, ये सब धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलन थे और राष्ट्रीय स्वतंत्रता इनके दार्शनिक सिद्धांतों का आवश्यक क्रियात्मक रूप था । ब्राह्म समाज के नेता केशवचंद्र सेन ने एक नया नारा दिया : वैयक्तिक स्वतंत्रता, सामाजिक समता और राष्ट्रीय चेतना । ब्राह्म समाज की ही एक शाखा थी साधारण ब्राह्म समाज । इसके अनुयायी राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेते, स्वतंत्रता में विश्वास करते, सरकारी नौकरी से दूर रहते और मानव मात्र की स्वतंत्रता में विश्वास करते थे । सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी समाज की बुलंद आवाज थे । प्रार्थना-समाज की स्थापना 1867 में हुई थी । इसके नेताओं में एम०जी० रानाडे और आर०जी० भंडारकर थे । रानाडे हिंदू-मुस्लिम एकता में दृढ़ विश्वास रखते थे और नए भारत के निर्माण के सपने देखते थे । स्वामी विवेकानंद की आवाज सारे भारत में ही नहीं अपितु अमरीका तक गूंजने लगी थी । उनका मूलमंत्र था 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्त वरान्निबोधत ।' स्वामी दयानंद तो नए भारत और मानव धर्म के लिए वैसे ही थे जैसे ईसाइयत के लिए सेंट पीटर थे । वे स्वधर्म, स्वदेशी और स्वराज के प्रवर्तक थे । इन्होंने अपनी विख्यात पुस्तक 'सत्यार्थ-प्रकाश' में जीवन का संपूर्ण संदेश राष्ट्रजीवन-व्यवस्था

4, 5. 'दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया' (कैम्ब्रिज, 1932), VI, पृ० 169-70
6. ताराचंद, 'फ्रीडम मूवमेंट', II, पृ० 514-15

सहित दिया है । इन्होंने यह कहा था कि विदेशी राज अच्छे से अच्छा क्यों न हो, स्वराज ही केवल श्रेयस्कर है ।

मुसलमान भी स्वतंत्रता के क्षेत्र में पीछे नहीं रहे । 1867 में उलमा द्वारा देवबंद स्कूल की स्थापना की गई । देवबंद स्कूल यह मानता था कि भारत समूचा एक राष्ट्र है और धार्मिक विभिन्नता के होते हुए भी यह एकता इस्लाम के अनुकूल है । देवबंद स्कूल का ध्येय यह था कि मुसलमानों से संपर्क बढ़ाया जाए और सरकार या दूसरे सत्ताधारियों से बचा जाए । देवबंद स्कूल के अतिरिक्त ऐसे मुसलमान भी थे जिन्होंने नई शिक्षा प्राप्त की थी । ये लोग राष्ट्रवादी थे और समाज की स्वतंत्रता और गणतांत्रिक विकास में विश्वास रखते थे । ये हिंदू-मुस्लिम एकता में विश्वास रखते थे और देशभक्ति को इस्लाम के अनुकूल मानते थे । बद्रुद्दीन तय्यबजी ने कहा था कि हम जाग चुके हैं और हमें अपने राजनीतिक अधिकारों का पता लग चुका है । जातिभेद, रंगभेद और पंथभेद जिनके कारण हम आज तक विभाजित रहे अब शिक्षा के कारण समाप्त हो चुके हैं ।

सर सय्यद अहमद खां ने तो हिंदू-मुस्लिम एकता पर कमाल ही कर दिया । वे देश की सामाजिक और राष्ट्रीय एकता में पूर्ण विश्वास करते थे । उन्होंने 1883 में पटना में कहा था कि "हम हिंदू और मुसलमान दोनों भारत देश की एक ही हवा में सांस लेते हैं, पवित्र गंगा और यमुना का जल पीते हैं, भारत मां की धरती से हमें भोजन मिलता है । हमारा तो जीवन और मरण का साथ है ।" उन्होंने पंजाब में आर्य समाज की वेदी से कहा था : "आप केवल अपने आप को हिंदू कहते हैं । यह ठीक नहीं क्योंकि मेरी राय में हिंदू नाम किसी धर्म-विशेष का नहीं है । जो भी हिंदुस्तान में रहता है वही अपने को हिंदू कहलाने का अधिकारी है । इसलिए मुझे तो खेद है कि यद्यपि मैं हिंदुस्तान में रहता हूं, आप लोग मुझे हिंदू नहीं समझते ।" उनके मत के अनुसार भारत में रहने वाले हिंदू, मुसलमान, ईसाई सबके सब एक ही जाति एवं राष्ट्र के सदस्य थे । वह समय चला गया था जबकि धर्म के आधार पर एक देश के निवासी दो जातियों के सदस्य कहलाते थे । इसलिए वे हिंदू और मुसलमान दोनों का उद्‌बोधन करते थे कि वह दिल व जान से एक रहें और मिलकर काम करें । उन्होंने चेतावनी दी कि यदि ये एक-दूसरे के विरुद्ध काम करेंगे तो दोनों ही समाप्त हो जाएंगे ।[7]

भारत की एकता, अखंडता, राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता का राजनीतिक और सामाजिक प्रतीक था इंडियन नेशनल कांग्रेस, जिसकी स्थापना 1885 में हो गई थी ।

राजसत्ता तो भारत के राष्ट्रीय सपनों का प्रतिरोध करने के लिए पहले दिन से ही तैयार थी । मित्रभेद का मूलमंत्र तो उन्होंने प्रारंभ से ही अपना रखा था । 1857 के पश्चात् उन्होंने इस मंत्र का नया प्रयोग किया और सबसे पहले हिंदुओं के विरुद्ध मुसलमानों पर इसकी शक्ति की साधना की ।

1857 में मुगल राज तो समाप्त हो गया था, केवल उसकी याद शेष रह गई थी । आंदोलन की विफलता सभी को खलती थी किंतु जैसे कुछ मुसलमान कांग्रेस को हिंदू संस्था

7. ताराचंद, 'फ्रीडम मूवमेंट', II, पृ० 357-58, 363

समझते थे वैसे ही 1857 के पश्चात् कुछ मुसलमान 1857 की पराजय को राष्ट्रीय पराजय की अपेक्षा मुगल और मुसलमानों की पराजय अधिक समझते थे, क्योंकि मुगल मुसलमान ही तो थे । इस ग्लानिमय स्थिति से निकलने का क्या रास्ता हो सकता था ? एक तो यह कि देश की अन्य सामाजिक शक्तियों से मिलकर स्वतंत्रता-संग्राम को जारी रखना, और दूसरा, राजसत्ता के साथ मिलकर नए वैभव का निर्माण करना । यदि पहला विकल्प अपनाया जाता तो उन्हीं लोगों की संख्या के नीचे दबना पड़ता जिन पर वे मुगल राज के माध्यम से राज कर चुके थे । यह तो शर्मनाक विकल्प ही समझा जा सकता था । यदि दूसरा विकल्प अपनाया जाता तो कम से कम अहले-किताब से सहयोग तो होता । मुसलमान इंजील को मानते हैं और यीशु मसीह को खुदा का पैगंबर । विकल्प था तो विवशतापूर्ण, पर शायद दोनों में से अच्छा था । राजसत्ता तो ऐसे ही विकल्प की प्रतीक्षा में थी । मुसलमानों ने दूसरा विकल्प ही अपना लिया ।[8]

ऐसे ही निराश मुसलमानों की ओर से सर डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर ने सरकार से सिफारिश की । उन्होंने सरकार से कहा कि मुसलमानों को इस समय सहानुभूति, उदारता और आर्थिक सहारे की आवश्यकता है । एक शती से वे सरकारी अवहेलना और सामाजिक अन्याय को सहते रहे हैं ।[9] डब्ल्यू० एस० ब्लंट ने मुसलमानों को आश्वासन दिलाया कि यदि आप अपनी शक्ति को पहचान लें तो सरकार न तो आपकी अवहेलना कर सकती है और न ही आपके साथ अन्याय कर सकती है । ब्लंट ने उन्हें कुछ नई फूंक भी दी । उन्होंने कहा कि जब हम इंग्लैंड में थे तो हम सदा ही भारत में मुसलमान आंदोलन के विचार मात्र से डर जाते थे और यदि एक मुसलमान भी कोई बात कहता था तो उसकी ओर अधिक ध्यान देते थे । हिंदू तो बीस भी कोई बात कहते तो कोई परवाह नहीं करता था ।[10] लार्ड डफरिन ने भी अपनी शासनावधि की समाप्ति पर विलायत वापस जाने से पहले उनको प्रोत्साहन दिया कि आप तो भूतपूर्व राजघराने की संतान हैं । आपने तो हिंदुस्तान पर राज किया है । आप प्रशासन और शासकों की जिम्मेदारियों को समझते हैं ।[11] ये सारी बातें इस आशा में कही जा रही थीं कि राजसेवार्थ इनसे मुसलमानों के दिल को जीता जा सकेगा । सर डब्ल्यू० डब्ल्यू० एच० ग्रेगरी ने लार्ड डफरिन से कहा था कि मुसलमानों की पिटाई 1857 में हो चुकी है । वे उस पराजय को बहादुरों की तरह स्वीकार करते हैं । वे सहायतार्थ केवल हमारी ओर देख रहे हैं—केवल हमारी ओर ! वे हिंदू सत्ता के नीचे पिसना नहीं चाहते ।[12] इस प्रकार राज-सत्ता ने कुछ निराश और हताश मुसलमानों को रंगीन शब्दों के पाश में बांधकर हिंदुओं के विरुद्ध भड़काया और स्वयं को बनाए रखने के लिए मित्रभेद मंत्र की शक्ति साधना की । यह साधना सर सय्यद के साथ आ जाने पर संपन्न हुई ।

8. ताराचंद, 'फ्रीडम मूवमेंट', II, पृ० 349-50
9. वही, पृ० 366
10. डब्ल्यू० एस० ब्लंट, 'इंडिया अंडर रिपन' (लंदन, 1909), पृ० 103-4
11. डफरिन, 'स्पीचिज डिलिवर्ड इन इंडिया' (1884-88), पृ० 204
12. उद्धृत : ताराचंद, 'फ्रीडम मूवमेंट', II, पृ० 515